ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

नियमसार प्रवचन

(भाग-१)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत परमागम
श्री नियमसार गाथा १ से १९ पर हुए
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के सन् १९४४ के
मंगलकारी अध्यात्मरस पूरित प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथमावृत्ति गुजराती : वीर संवत् २४७७, फाल्गुन शुक्ल २, विक्रम संवत् २००७
ईस्वी सन् १९५१ (श्री सीमन्धर जिन प्रतिष्ठा १० वर्षीय महोत्सव)
प्रकाशक - श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़, सौराष्ट्र
प्रथमावृत्ति हिन्दी : पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के 41वें समाधिदिवस की स्मृति में

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ www.vitragvani.com शास्त्र भण्डार, पूज्य गुरुदेवश्री के संकलित प्रवचन में उपलब्ध है।

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250,
   फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग,
   विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056,
   फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

ॐ

नमः श्री सद्गुरुदेवाय

प्रस्तावना

श्री नियमसार परमागम के कर्ता श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत् के शुरुआत में हो गये हैं। निर्ग्रन्थ आचार्य भगवन्तों में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रमुख पद पर विराजमान हैं। आपश्री अत्यन्त अभ्यासशील वीतराग दर्शन के परम मर्मज्ञ, श्रुतज्ञान के महासागर और अनेक लब्धियों निवासभूत महामुनि थे। आपने त्रिलोकपूज्य भगवान महावीर से प्रवाहित मोक्षमार्ग के बीजभूत ज्ञान को परम पवित्र परमागमों में संग्रहित कर रखा और भव्य जीवों पर अपार उपकार किया है। आपश्री को भगवान महावीर के शासन का ज्ञान आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ था। इतना ही नहीं, किन्तु आठ दिन तक महाविदेहवासी श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि के साक्षात् श्रवण करने का महा सौभाग्य भी आपको प्राप्त हुआ था। इस प्रकार तीर्थंकरदेवों का उपदेश प्राप्त करनेवाले भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित अनेक शास्त्रों में से एक उत्तम आध्यात्मिक शास्त्र श्री नियमसार है। उसमें परम शान्तरसमय आध्यात्मिक गूढ़ भाव भरे हैं। नयाधिराज निश्चयनय का इसमें अलौकिक निरूपण है। शुद्ध जीव, व्यवहार-निश्चयचारित्र, निश्चय प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना-प्रायश्चित्त परमसमाधि, शुद्ध उपयोग इत्यादि का स्वरूप इसमें सुन्दर रीति से समझाया गया है। जिससे मुमुक्षुओं का झुकाव क्षणिकभावों की ओर से छूटकर शुद्ध द्रव्यसन्मुख होकर निजानन्द में लीन हो। इस शास्त्र की मूल गाथायें १८७ हैं। इन गाथाओं पर निर्ग्रन्थ मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विस्मृत संस्कृत टीका रची है। टीकाकार महासमर्थ अध्यात्मरत मुनि भगवान हैं। उन्होंने टीका करते हुए अध्यात्मरस को अद्भुत रीति से घोंटा है; परमपारिणामिकभाव, कारणपरमात्मा इत्यादि को अति अलौकिक रीति से गाया है। टीका गद्यरूप है तथा उसमें अनेक अध्यात्मरस झरते मधुर पद्य भी है। टीकाकार मुनि भगवन्त ने मूल शास्त्रकार के आशय को अति स्पष्ट करके परम उपकार किया है।

संस्कृत टीका के आधार से इस शास्त्र का हिन्दी अनुवार ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसादजी

ने किया है।* मूल गाथायें, संस्कृत टीका और हिन्दी अनुवाद विक्रम संवत् १९७२ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था, उस पुस्तक पर परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजीस्वामी ने सोनगढ़ में संवत् २०००-२००१ में प्रवचन किये थे। वे प्रवचन यथाशक्ति झेलने की व्यवस्था करके पहली १९ गाथाओं के प्रवचन हम आज पुस्तकाकाररूप प्रगट कर मुमुक्षुओं के समक्ष रखते हैं।

भारतवर्ष में अध्यात्म जागृति फैलानेवाले, स्वरूपानुभवी अध्यात्मयोगी श्री कानजीस्वामी ने इन प्रवचनों में सूक्ष्म अध्यात्म की पराकाष्ठाभूत शुद्ध कारणपर्याय इत्यादि परम गहन आध्यात्मिक रहस्य खोलकर अध्यात्म प्रसिद्ध सुपात्र मुमुक्षुओं पर उपकार किया है। मुमुक्षु, इस शास्त्र का अतिशय एकाग्रता से अभ्यास करके आत्मिक सुधारस का अनुभव करें....

मागसर शुक्ल १०
वीर संवत् २४७२
विक्रम संवत् २००२

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

* तत्पश्चात् तो पूज्य गुरुदेवश्री की भावना से इस नियमसार परमागम एवं संस्कृत टीका का शब्दशः गुजराती अनुवाद पण्डित हिम्मतभाई जेठालाल शाह सोनगढ़ द्वारा किया गया।

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है—

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन

रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल

तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त

ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

ॐ

श्री परमात्मने नमः

नियमसार प्रवचन

(भाग - १)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री नियमसार परमागम की गाथा १ से १९ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
वीर संवत् २४७० ईसवी सन् १९४४ में हुए प्रवचन

व्याख्यान नं. १, दिनांक २०-०४-१९४४

हिन्दी टीकाकार का मंगलाचरण

समयसार सतगुरु प्रणमि, द्रव्य भाव हरषाय।
'गौतम' गणधर गाय गुण, जिनवाणी उर ध्याय॥१॥

'कुंदकुंद' मुनि चरण नमि, अनुभव के दातार।
ज्ञानभानु-सम्यक्किरण, मिथ्यातमहरतार॥२॥

नियमसार गुण-रत्न को, प्रगटायो सुखदाय।
प्राकृतभाषामय मधुर, निजरसअनुभवदाय॥३॥

समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा, उसके विद्यमान गुण, वे सत् हैं और रागादि असत् हैं। समयसाररूप सत् को प्रणमि (उस ओर विशेष नमकर) द्रव्य और भाव से हर्ष लाकर-नमकर, गौतम गणधर के गुणग्राम करके, जिनवाणी जो परम आत्मपद को बतलानेवाली, उसका ध्यान करके, अनुभव के दातार ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के

चरणों में नमस्कार करके मैं इस शास्त्र का अनुवाद करता हूँ।

मुमुक्षु : आप तो कहते हो कि कोई किसी को कुछ दे नहीं सकता - तो यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य को अनुभव का दातार क्यों कहा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : जिसके निमित्त से अनुभव पाया, उसमें आरोप करके उन्हें अनुभव का दातार कहा है।

कुन्दकुन्दाचार्य सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य-किरण देनेवाले हैं और अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करनेवाले हैं। गुणरत्न के भण्डाररूप नियमसार आत्मा का आनन्द देने के लिये प्रगट किया है। इस शास्त्र की भाषा प्राकृत-मधुर है और वह आत्मा के आनन्द का दातार है।

'पद्मप्रभ मलधारि' जे, मुनि निर्ग्रन्थस्वरूप।
वर संस्कृत टीका रची, पद अरु शब्द अनूप॥४॥

ताकी छाया लेयकर, तुच्छ बुद्धि अनुसार।
प्राकृत की भाषा करूँ, बालबोध हितकार॥५॥

जिनके शरीर की कान्ति पद्म (कमल) जैसी थी, ऐसे शरीर के धारक और निर्ग्रन्थ स्वरूप अर्थात् अन्तर में राग-द्वेषरहित और बाह्य परिग्रहरहित, ऐसे निर्ग्रन्थ मुनिश्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने इस शास्त्र की संस्कृत टीका की है। जैसी अद्भुत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने श्री समयसार की है, उन जैसी ही अद्भुत टीका पद्मप्रभदेव ने इस नियमसार की है।

निज अनुभव के कारणों, पर अनुभव के काज।
चार दाह जग छाँडकर, भजि मन वच जिनराज॥६॥

मैं अपने अनुभव के कारण और परजीवों को शान्ति अनुभव मिले इसलिए, जगत की चाह और दाह (राग और द्वेष) छोड़कर, मन-वचन से वीतराग का भजन करके यह टीका करता हूँ।

यह पद्मप्रभमलधारिदेव ९०० वर्ष पहले हुए। उन्होंने यह टीका रची है, इसमें कारणपरमात्मा का (परमपारिणामिकभाव का) बहुत अद्भुत रीति से वर्णन किया है।

टीकाकार के मंगलाचरण का भावार्थ

पहले देव-गुरु की शुद्धि बतलानेवाला स्वरूप कहा है।

हे परमात्मा! आप तो शुद्ध आनन्द के ही भोगनेवाले हो, जगत में कोई कर्ता-हर्ता नहीं। आपके जैसे वीतराग जिनदेव होने पर भी मोहमुग्ध ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश और बुद्ध आदि जो कर्तृत्व को भजते हैं - अर्थात् जगत् का कर्तापना मानते हैं, उन्हें मैं किस प्रकार भज सकता हूँ? पर का कर्तापना मानने में राग है; जगत का कुछ कर सकने का माना, वहाँ पर का अभिमान आया; इसलिए मैं वीतराग जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करता हूँ।

वस्तु का स्वभाव ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है, उसे और दूसरा उत्पन्न करे या नाश करे, ऐसा नहीं होता। जो मोह में मूर्च्छित है और विषय के वश हैं, वे पर का कर्तृत्व मानते हैं; कर्तापना मानना, वह राग है; यदि राग न हो तो पर का करने का भाव करे किसलिए? इसलिए ऐसे मोहमुग्ध प्राणी को नमन नहीं करता, जिन्होंने राग-द्वेष को नाश कर वीतरागता प्राप्त की है, ऐसे जिनेन्द्रदेव सूर्य को नमस्कार करता हूँ।

सुगतमगधरं वा वागधीशं शिवं वा,
जितभवमभिवन्दे भासुरं श्रीजिनं वा॥

जिनेन्द्रदेव कैसे हैं? १—जिन्होंने संसार को जीता है अर्थात् कर्म के संयोग से होनेवाले राग-द्वेष के विकारी भावों को जीतकर वीतरागभाव की प्राप्ति की है।

२— मोक्षमार्ग के नेता (निमित्त से ले जानेवाले) हैं।

३— वाणी के स्वामी हैं अर्थात् कि वीतरागभाव की वाणी ही सर्वोत्कृष्ट है, जिसमें एक समय में पूर्ण रहस्य आवे, ऐसी दिव्यध्वनि वीतराग को हो सकती है, इस अपेक्षा से कहा कि वाणी का स्वामित्व तो मानो आपको ही वर्तता हो! अर्थात् कि आप भी उत्कृष्ट और आपकी वाणी भी उत्कृष्ट!

४— आनन्दरूप हैं, आत्मा का स्वभाव जो अकेला आनन्दरूप है, वैसा आनन्द प्रगट है, आनन्दरूप ही स्वरूप है।

पूर्णता के भान पश्चात् अभी स्वयं को पूर्णता प्रगटी न हो, तब तक वीतरागप्रभु

को अन्तर से पहिचानकर वाणी द्वारा बराबर गुणगान करे। वीतराग के भक्त ही वीतराग को भलीभाँति पहिचानकर उनके गीत गा सकते हैं।

और टीकाकार कहते हैं कि —

(अनुष्टुप्)

वाचं वाचंयमीन्द्राणां वक्त्रवारिजवाहनम्।
वन्दे नयद्वयायत्त-वाच्य-सर्वस्व-पद्धतिम्।।२।।

तथा मैं जिनवाणी को नमस्कार करता हूँ, वीतराग की वाणी को नमन करता हूँ।

मुमुक्षु : वाणी तो जड़ है, तो जड़ को नमस्कार कैसे किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतराग की वाणी निमित्त से पूर्णस्वरूप को बतलानेवाली है, इसलिए वाणी को नमस्कार किया है। जड़ को जड़रूप से पहिचानकर, वह आत्मा को बतलाने में निमित्त है, इसलिए उसे नमस्कार करता हूँ, ऐसा बोला जाता है। वहाँ वास्तव में तो अपने भाव को नमते हैं।

और वाणी कैसी है?

जो मुनिश्वरों के इन्द्र ऐसे जिनेश्वर-वीतरागदेव के मुखकमल से निकली है, आत्मपदार्थ को बतलानेवाली है तथा उस वाणी में स्वपदार्थ - आश्रय से कथन अर्थात् निश्चयनय और परपदार्थ - आश्रय से कथन अर्थात् व्यवहारनय, इन दोनों नयों द्वारा वस्तु का पूर्ण स्वरूप कहा है। निश्चय और व्यवहार द्वारा वाच्य जो पूर्ण स्वरूप, उसका कथन किया है। भगवान की वाणी में अपूर्णता नहीं होती।

मुमुक्षु : वाणी द्वारा आत्मा का पूर्ण स्वरूप नहीं आ सकता, ऐसा कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने भाव में पूरा समझ में आया है, इसलिए उसका उपचार करके वाणी में भी पूरा आ गया, ऐसा कहा, वह व्यवहार है। व्यवहार वस्तु ही नहीं, ऐसा नहीं है अर्थात् व्यवहार सर्वथा अभावरूप नहीं है। व्यवहार है सही, परन्तु वह आदरणीय नहीं है। जो कहनेयोग्य पदार्थ (आत्मा), उसका पूर्णस्वरूप भगवान की वाणी में कहा गया है। इस प्रकार देव और वाणी को नमस्कार किया तथा उनका स्वरूप कहा।

अब सन्त-मुनियों को स्मरण करते हैं।

(शालिनी)

सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं
तर्काब्जार्कं भट्टपूर्वाकलंकम्।
शब्दाब्धीन्दुं पूज्यपादं च वन्दे
तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिं व्रतीन्द्रम्।।३।।

सिद्धान्त सागर के पारगामी और पवित्र सिद्धान्त अर्थात् तीन काल में अफर ऐसे सिद्धान्तरूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी के स्वामी श्री सिद्धसेन मुनि को नमस्कार करता हूँ। तर्करूपी कमल को प्रफुल्लित करने में सूर्य समान ऐसे श्रीमद् भट्टाकलंकदेव को नमस्कार करता हूँ; शब्दरूपी समुद्र की वृद्धि करने में चन्द्रसमान श्री पूज्यपादस्वामी को तथा विद्या के पारगामी महाव्रतियों में इन्द्र समान ऐसे श्री वीरनन्दी आचार्य को नमस्कार करता हूँ।

यहाँ सभी सन्तों को स्मरण किया है। मोक्ष के मण्डप में कोई बाकी न रह जाये। भाव से सबको बुलाया है। अन्तर से तार किया है कि 'मैं यह शास्त्र लिखता हूँ, हे भगवान! हे वाणी! हे सन्तों-मुनियों! सर्व उपस्थित होओ।' यहाँ आचार्य का अपना भाव है।

अब 'यह शास्त्र किसलिए रचता हूँ' वह कहते हैं :-

(अनुष्टुप्)

अपवर्गाय भव्यानां शुद्धये स्वात्मनः पुनः।
वक्ष्ये नियमसारस्य वृत्तिं तात्पर्य्यसञ्ज्ञिकाम्।।४।।

भव्य जीवों को मोक्षमार्ग में निर्मल आत्मशान्ति के पन्थ में लगाने के लिये और मेरे आत्मा की निर्मलता के लिये, इस नियमसार की **तात्पर्यवृत्ति** नामक टीका की रचना करता हूँ। तात्पर्यवृत्ति अर्थात् कि उसमें कहने का क्या हेतु है, यह मैं कहूँगा।

अब शास्त्र की प्रमाणता और अपनी निर्मानता बतलाते हैं :—

(आर्या)

गुणधरगणधररचितं श्रुतधरसन्तानतस्तु सुव्यक्तम्।
परमागमार्थ-सार्थं वक्तु-ममुं के वयं मन्दाः।।५।।

यह शास्त्र परमागम है, गुण के धारक गणधरदेव से यह रचित है, वही भावश्रुत के धारण करनेवाले आचार्यों ने परिपाटी द्वारा प्रगट किया है। इस प्रकार अविच्छिन्न धारा टूटी नहीं। जो धारा गणधरदेव से आयी है, उसी धारा द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने रचा है और उसके पश्चात् सम्यक्श्रुत के धारक श्रीगुरुओं ने परम्परा से कहा है; ऐसे इस परम शास्त्र के अर्थ को कहने में मैं पीछे से हुए और अल्पबुद्धिवन्त कैसे समर्थ हो सकता हूँ?

(अनुष्टुप्)

अस्माकं मानसान्युच्चैः प्रेरितानि पुनः पुनः।
परमागम-सारस्य रुच्या मान्सलयाऽधुना।।६।।

तथापि इस परमागम के सार की जो पुष्ट रुचि मुझमें उत्पन्न हुई है, उससे मेरे मन को बारम्बार प्रेरणा हुई है, मेरी रुचि उसमें ही पोषित है, उस रुचि के जोर से ही मैं यह कहूँगा। यहाँ 'मेरे मन को प्रेरणा हुई है'—ऐसा कहा है, क्योंकि यह भी शुभभाव है, यह शुभभाव आत्मा के स्वरूप में नहीं परन्तु मन के अवलम्बन से है।

(अनुष्टुप्)

पञ्चास्तिकायषड्द्रव्यसप्ततत्त्वनवार्थकाः।
प्रोक्ताः सूत्रकृता पूर्वं प्रत्याख्यानादिसत्क्रियाः।।७।।

मूल ग्रन्थकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व और नौ पदार्थ तथा बाद के भाग में प्रत्याख्यान आदि सत् क्रियाओं का वर्णन किया है; पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव सब असत् क्रिया है - क्षणिक है, अकेली ज्ञान की क्रिया सत् है, उस सत् क्रिया का वर्णन किया है।

अब अधिक विस्तार न करके मूल ग्रन्थ का विवेचन करते हैं।

★★★★★

गाथा-१

णमिऊण जिणं वीरं अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवलीभणिदं ।।१।।

नत्वा जिनं वीरं अनन्तवरज्ञानदर्शनस्वभावम्।
वक्ष्यामि नियमसारं केवलिश्रुतकेवलिभणितम् ।।१।।

गाथा - १ पर प्रवचन

मूल ग्रन्थकर्ता कुन्दकुन्दाचार्य का असाधारण मंगलाचरण।

इस शास्त्र की शुरुआत में शास्त्र के कर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने असाधारण मांगलिक किया है, अविच्छिन्न अखण्ड मांगलिक किया है। मांगलिक उसे कहा जाता है कि पाप का (बन्धन को-पुण्य-पाप दोनों बन्धन है उनका) नाश करे और आत्मा की शान्ति को दे। इस मांगलिक को असाधारण क्यों कहा? क्योंकि यह मांगलिक साधारण नहीं है। लौकिक मांगलिक जैसा यह मांगलिक नहीं है। परन्तु विशेष है; इस मांगलिक में ही ऐसी शक्ति है कि जो जीव स्वरूप को अनादि से लगे हुए कर्ममल-पाप का (आठों कर्म पाप हैं, तीर्थंकरप्रकृति का समावेश भी उसमें हो जाता है)। नाश करके आत्मा की पवित्रता को—स्वरूप के आनन्दरूपी सुख को प्राप्त करा सकता है, इसलिए असाधारण है। अर्थात् यह एक मांगलिक एक ही प्रकार का है कि जो आत्मा के सुख को ही दे, इसके अतिरिक्त दूसरा मांगलिक आत्मसुख को नहीं दे सकता।

गाथा का संक्षेप अर्थ:—इस गाथा में कुन्दकुन्दाचार्य नमस्कार करते हैं। किसे नमस्कार करते हैं? कि अनन्त केवलज्ञान और अनन्त केवलदर्शन जिन्हें प्रगट हुआ है, ऐसे श्री जिनेन्द्र वीर भगवान को पहले नमस्कार किया है और प्रतिज्ञा की है कि केवली तथा श्रुतकेवलियों ने कहे हुए इस नियमसार परमागम को मैं कहूँगा।

विशेष अर्थ :— जिन अर्थात् क्या? जिसमें जन्म-मरणरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है, ऐसे संसार वन में भटकानेवाले राग-द्वेष-मोह आदि समस्त विभावभाव को जिन्होंने

जीता है, वे जिन हैं। 'जिन' यह शब्द गुणवाचक है, किसी का नाम 'जिन' दे दिया हो, इसलिए वह वास्तव में 'जिन' नहीं है।

'वीर':— (वीरयते) कर्मरूपी शत्रुओं को वीर्य द्वारा जो परास्त (नाश) करे, वह वीर है। यहाँ 'कर्म का नाश करते हैं', ऐसा निमित्त से बोला जाता है। वास्तव में भावकर्म का नाश करते हैं और भावकर्म नाश होने पर द्रव्यकर्म उसके कारण से स्वयं नाश को प्राप्त होता है।

चौबीसवें तीर्थंकर के पाँच नाम प्रसिद्ध हैं :—

(१) श्री वर्धमान = पुरुषार्थ द्वारा जिन्होंने गुण की वृद्धि की है;

(२) सन्मतिनाथ = खोटी बुद्धि का नाश करके जिन्होंने सुमति प्रगट की है;

(३) अतिवीर = वीरता में (पुरुषार्थ में) अतिशयपना है;

(४) महावीर = पुरुषार्थ में महानपना है;

(५) वीर = पुरुषार्थ द्वारा रागादि को जीत लिया है;

— ऐसे श्री वर्धमानस्वामी ही परमेश्वर हैं, महादेवादिदेव हैं। पुण्य के फलरूपी स्वर्ग के देव, उनके देव श्री गणधर और उनके भी देव अर्थात् महादेवादिदेव, ऐसा विशेषण प्रयोग किया है।

अपने केवलज्ञान-केवलदर्शन से निर्मल अवस्थारूप पूर्ण होकर (स्वभाव से तो सभी पूर्ण हैं, परन्तु उससे पूर्ण ज्ञात नहीं होता, इसलिए कहा कि पर्याय में पूर्ण होकर) तीन काल-तीन लोक के चराचर पदार्थों की सभी पर्यायों को एक साथ एक समय में जाननेवाले हैं। यह कहने का यहाँ ऐसा आशय है कि जो सब जानने-देखनेवाले तथा वीतराग हों, वे ही आप्त पुरुष आगम के स्वामी और सत्यवक्ता हो सकते हैं। ऐसा वीतराग का ही कथन सत्य कल्याणकारी है; इसके अतिरिक्त जिस आत्मा को सर्वज्ञपना या सर्वदर्शीपना प्रगट नहीं हुआ, वह सच्ची बात—पूरा स्वरूप नहीं कह सकते। जो अल्पज्ञानवाला हो या किसी भी प्रकार से रागादि का पक्ष हो, वह कदापि सच्चा कल्याणकारी उपदेश नहीं दे सकता। आत्मा के कल्याणस्वरूप का उपदेशकपना (परम हितोपदेशीपना) तो परम औदारिकशरीर के धारण करनेवाले ऐसे श्री केवलज्ञानी को

ही हो सकता है। जो लोकभय या लोक अपमान से डर जाये, वह आत्मा के निर्भयस्वरूप में कैसे खड़ा रह सकेगा?

कोई कहे कि पहले रोटियों की सुविधा करके फिर धर्म करेंगे तो सातवें नरक में असंख्य अरबों वर्ष तक चावल का दाना या पानी की बूँद नहीं मिलती थी तथा सब बाह्य असुविधाओं का पार नहीं, तथापि वहाँ धर्म (आत्मभान) पा सकता है और यहाँ तो कहे, पहले रोटियाँ इत्यादि की सब सुविधा करने के पश्चात् धर्म करूँ! परन्तु असुविधा में भी धर्म हो सकता है। आत्मा को असुविधा कैसी?

अब तीर्थंकर कैसे होते हैं, उनका स्वरूप कहा जाएगा।

★★★★★

व्याख्यान नं. २, दिनांक २१-०४-१९४४, गुरुवार

तीर्थंकर कैसे होते हैं ? कि उन्हें ही वन्दन करनेयोग्य है और वे ही असाधारण मांगलिक हैं ? उनका स्वरूप कहते हैं :—

जो हितोपदेश के कर्ता हैं और जीवन्मुक्तदशा अर्थात् भावमुक्ति प्राप्त की है; आयुकर्म बाकी होने पर भी अन्तर्मुक्त हो गये हैं; (चार अघातिकर्म वर्तते हैं) और सर्वज्ञता तथा वीतरागता ऐसे गुणों से सुशोभित हैं; क्षुधा नहीं, क्षुधा की इच्छा भी नहीं। कोई कहे, इच्छा बिना का आहार (कवल आहार) तो होता है न ? तो ऐसा भी नहीं है; अन्तर में आहार की इच्छा नहीं और बाहर में भी आहार नहीं; तृषा नहीं, स्वरूप के अमृत का पान कर रहे हैं, उसमें तृषा ही नहीं—पानी की इच्छा नहीं, शरीर में जरा (वृद्धावस्था) नहीं होती, असाता नहीं होती, (साता के अनन्तवें भाग असाता होती है, परन्तु वह बाहर दिखाई नहीं देती। जैसे मीठे पानी से भरे हुए समुद्र में एक छोटी नमक की कंकड़ी डालने से समुद्र के जल में उसकी कोई गिनती नहीं है; उसी प्रकार केवली को अनन्तवें भाग असाता है, उसकी गिनती नहीं है)।

भगवान को जन्म-मरण नहीं होते, देह छूटने के पश्चात् मुक्त ही हैं, इसलिए वह मरण नहीं कहलाता। देह से छूटना, वह मरण नहीं परन्तु एक देह के पश्चात् दूसरा देह धारण करना पड़े, वह मरण है। केवली को दूसरा देह धारण करनापना नहीं है, इसलिए उन्हें मरण नहीं परन्तु मुक्ति ही है; भय नहीं। जिस प्रकार होना है, वह तो स्वयं जान लिया है, पश्चात् भय किसका ? विस्मयता नहीं, जहाँ कुछ ज्ञात न हुआ हो तो नया लगे, वहाँ आश्चर्य हो; केवली को तो कुछ भी जानना बाकी नहीं रहा, एक साथ तीन काल-तीन लोक का ज्ञान वर्तता है; इसलिए उन्हें विस्मयता नहीं। राग नहीं, द्वेष नहीं, मोह नहीं, पसीना नहीं, खेद नहीं, मद नहीं, चिन्ता नहीं, रति नहीं, अरति नहीं और निद्रा नहीं; इस प्रकार केवली भगवान अठारह दोषरहित है। ऐसे ही देव कल्याण करनेवाले हैं। आत्मा की उपासना के इच्छुक को अपने हित के लिये ऐसे आप्त को ही देव (पवित्रता में पूरे) पूज्य (पूजायोग्य) माननीय, सकल (शरीरसहित) परमात्मा और परम सुखी समझना और वही दर्शनयोग्य तथा वन्दनयोग्य है।

टीका :— यह नियमसार ग्रन्थ से आवश्यक यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही नियम है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसरूप जो नियम, उसका सार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप आत्मा, उसका वर्णन करेंगे। यहाँ 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप'— ऐसा कहकर आत्मा के साथ उनका अभेदपना बतलाया है; शुद्ध आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद भी नहीं हैं।

नियमसार की प्रमाणता :— यह मेरा ही कथन नहीं परन्तु जो सकल-प्रत्यक्ष-पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञानी और द्वादशांग के पारगामी ऐसे श्रुतकेवली कह चुके हैं। उसमें से मिला है, वही मैं कहूँगा, मेरे घर का नहीं कहता। मैं जो परमागम को कहूँगा, वह मेरे मन की कल्पना से नहीं कहता परन्तु जैसा मेरे गुरुओं ने मुझे कहा है, वही मैं कहूँगा, ऐसा कहकर अपनी निर्मानता और गुरु परम्परा की अविच्छिन्नता ठेठ तक चली आयी हुई प्रणालिका से इस शास्त्र का प्रामाणिकपना सिद्ध किया; यह परमागम समस्त भव्यजीवों के समूह को हितकारी है। इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने अपने इष्टदेव श्री अरिहन्त की स्तुति करके नियमसार कहने की प्रतिज्ञा की।

अब टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि :—

(मालिनी)

जयति जगति वीरः शुद्धभावास्तमारः,
त्रिभुवनजनपूज्यः पूर्णबोधैकराज्यः।
नतदिविजसमाजः प्रास्तजन्मद्रुबीजः,
समवसृतिनिवासः केवलश्रीनिवासः ।।८।।

इस जगत में आत्मशक्ति में जो वीर है, ऐसे श्री महावीर भगवान सदा जयवन्त वर्तो। जिन महावीर ने शुद्ध आत्मरमणता से कामदेव का संहार (पराजय) किया है, (आत्मा के सुख की मिठास बिना इन्द्रिय के सुख की मिठास नहीं जाती। पद्मप्रभमलधारि निर्ग्रन्थ मुनि थे, उन्हें ब्रह्मचर्य की लीनता बहुत थी, इसलिए ब्रह्मचर्य का वर्णन जगह-जगह किया है।) सबमें मुख्य जो विषय-वासना, उसे आत्मभावना से निर्मूल किया है, ऐसे महावीर भगवान त्रिलोक वन्द्य हैं, पूर्ण परमात्मदशा खिली है, उन्हें तीन लोक पूजता है; यहाँ कोई न पूजे, उसकी गिनती ही नहीं है, आचार्य स्वयं और दूसरे सब बड़े

(इन्द्र, चक्रवर्ती इत्यादि) नमते हैं, उसमें सब आ जाते हैं। बड़े पुरुष नमते हैं, उसकी ही गिनती है। अज्ञानी को तो नमस्कार क्या, वही खबर नहीं। भगवान के जन्मकल्याणक में सभी देव नहीं आते परन्तु इन्द्र इत्यादि बड़े आते हैं, इसलिए सब आते हैं, ऐसा कहा जाता है। यहाँ आचार्य को अपनी दृष्टि में पूज्य भाव जगा है, इसलिए दृष्टि की व्यापकता से कहा है कि 'तीन लोक पूजते हैं।'

और भगवान के पास पूर्ण ज्ञान का एक राज है। राजा उसके राज्य में क्या करता है ? किसी पर को भोगता नहीं परन्तु मात्र 'यह मेरा' ऐसा मानता है, वहाँ वास्तव में तो वह राज को जानता है तथा अज्ञानी उसमें मेरेपन का अभिमान करता है। भगवान के पास ज्ञान का एक स्व-राज्य (ज्ञान में) पर की आवश्यकता नहीं पड़ती, ऐसा राज्य (है कि) ज्ञान में कोई परद्रव्य जानने में बाकी न रहे-अर्थात् सब ज्ञात हो। जैसा यहाँ (सर्वज्ञ के ज्ञान में) ज्ञात होता है, वैसा सामने (ज्ञेय में) परिणमन होता है और जैसा सामने परिणमन होता है, वैसा ही अपने ज्ञान में ज्ञात होता है। चक्रवर्ती का भी अन्तर से न माननेवाले होते हैं, परन्तु भगवान के पूर्ण ज्ञान की सत्ता किसी से नहीं बदलती अर्थात् भगवान के ज्ञान में जैसा ज्ञात हुआ, वैसा न हो, ऐसा नहीं होता।

और भगवान महावीर को देव, जो कि पुण्य के पुतले हैं, उनके झुण्ड नमस्कार करते हैं, इसलिए पुण्य से धर्म अलग चीज़ है, यह भी सिद्ध होता है। जिसने संसारवृक्ष के बीज राग-द्वेष-मोह का नाश किया है और केवलज्ञान, केवलदर्शन अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य की लक्ष्मी का स्थान है तथा जो समवसरण में विराजमान हैं—ऐसे महावीर भगवान को इस पहली गाथा में नमस्कार किया है।

★★★★★

गाथा-२

अब मोक्षमार्ग और उसके फल का वर्णन करते हैं।

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं।।२।।

मार्गो मार्गफलमिति च द्विविधं जिनशासने समाख्यातम्।
मार्गो मोक्षोपायः तस्य फलं भवति निर्वाणम्।।२।।

गाथा - २ पर प्रवचन

सामान्य अर्थ :— वीतराग की शिक्षा में—वीतराग के शासन में मार्ग और मार्ग का फल (उपाय और उपेय) ऐसे दो भेद कहे हैं। जो आत्मा की पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति का उपाय, वह मार्ग है और निर्वाण का प्राप्ति, वह मार्ग सेवन का फल है। चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक मार्ग है और उस पर्याय का व्यय और तत्पश्चात् की पर्याय का उत्पाद (मार्ग का अभाव और मार्गफल की उत्पत्ति अर्थात् सिद्धदशा का उत्पाद) इन दोनों का एक ही समय है।

विशेषार्थ :— यहाँ मार्ग कहने से शुद्ध रत्नत्रय आवश्यक है, यह तीन रत्न (सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से आत्मा की पूर्ण दशारूप फल प्राप्त होता है। आचार्य ने स्त्री सम्बन्धी विकल्प छेदने के लिये 'मुक्तिरूपी स्त्री' ऐसा अलंकार किया है। रत्नत्रय के फल में पूर्ण निर्मलपरिणतिरूपी स्त्री, उसके स्थूल ललाट पर (संकुचित ललाट नहीं परन्तु विशाल है कि जिसके बीच में तिलक समरूप हो सकता है।) लीलासहित अलंकाररूप तिलकपने को प्राप्त अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ आचार्य ने विकल्प तोड़ने के लिये संसार की सभी भाषा को मोक्ष भाषा में बदल दिया है। अन्दर जिस जाति का विकल्प जगा, उसका नकार करके, उसी जाति का अलंकार किया है। दुनिया स्त्री के विषय में अटकी है, जबकि धर्मात्मा मोक्षरूपी स्त्री के भव्य ललाट में तिलक करते हैं। उसे धोखवीर्य—आत्मबल की प्राप्ति है।

तिलक करने में भी तिलक करनेवाले की होशियारी और एकाग्रता चाहिए, नहीं तो तिलक आड़ा-टेढ़ा होता है; उसी प्रकार मोक्षरूपी स्त्री के ललाट में लीलासहित तिलक करने में भी मात्र एकाग्रता और पुरुषार्थ की आवश्यकता है, उसमें आड़े-टेढ़े विकल्प का निषेध चाहिए। यदि विकल्प होगा तो तिलक नहीं हो सकेगा। टीकाकार ने मोक्षदशा का ऐसी अलौकिक झलकसहित वर्णन किया है कि मानो एक मोक्षदशा में ही पूरे आत्मा का अलंकार आ गया हो! आचार्य को मोक्षमार्ग में ऐसी एकाग्रता है कि इसके अतिरिक्त अन्यत्र विकल्प आवे, उसे मोक्ष की ओर मोड़ देते हैं। विकल्प आवे, वह नाश खाते है और मोक्षपर्याय ही उत्पन्न हो, ऐसा जोर है।

जिनशासन में इस उपदेश का प्रयोजन है कि जो उपदेश परम वीतराग सर्वज्ञ भगवान ने और चार ज्ञान के धारण करनेवाले ऐसे गणधरादि पूर्वोचार्यों ने कहा है। सम्यक् प्रतीति, सम्यग्ज्ञान और आत्मरमणता—इन तीनों की एकता, वह मोक्षमार्ग है, तीनों अलग नहीं हैं।

कैसा है मोक्षमार्ग?

जिसमें मोक्ष या मोक्षमार्ग कि कोई भी अपेक्षा नहीं, ऐसे परम शुद्ध परमात्मस्वरूप की परम निरपेक्ष निश्चयनय द्वारा यथार्थ श्रद्धा, परिज्ञान और अनुभव, उसस्वरूप शुद्ध रत्नत्रय, वह मोक्षमार्ग है। आत्मा कायमी वस्तु है, उसमें गुण के भेद परमार्थ से नहीं हैं, एकरूप ही स्वभाव है।

बन्ध-मोक्ष की अपेक्षा क्षणिकरूप है सही, क्योंकि वस्तु अत्यन्त (एकान्त) सामान्य नहीं, विशेष भी है अवश्य। अकेला निरपेक्ष ही कहो तो नय ही नहीं रहता। ज्ञान में गौण परन्तु विशेष की अपेक्षा से है, दृष्टि में विशेष का लक्ष्य ही नहीं है। दृष्टि निरपेक्ष हुई कब? कि जब पर्यायभेद का लक्ष्य छोड़कर एकरूप अभेद सामान्य वस्तु का लक्ष्य किया, तब दृष्टि निरपेक्ष हुई है। वर्तमान दृष्टि के लक्ष्य में पर्याय का लक्ष्य भी नहीं। बन्ध-मोक्ष का भेद है सही, परन्तु दृष्टि के अभेदविषय में भेद गौण है।

आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुण का पिण्ड एकरूप अपेक्षारहित है। उसमें 'मैं ऐसा हूँ या ऐसा हूँ' ऐसे भेद का आश्रय नहीं है। सम्यग्दर्शन का आश्रय मोक्षमार्ग नहीं है परन्तु

सामान्य एकरूप निरपेक्ष द्रव्य, वह सम्यग्दर्शन का आश्रय है। मोक्षमार्ग की जो निर्मल पर्याय उघड़ती है, वह तो सद्भूतव्यवहार है, वह सम्यग्दर्शन का आश्रय नहीं। सम्यग्दर्शन का विकल्प सम्यग्दर्शन का आश्रय नहीं। पुण्य-पाप भी सम्यग्दर्शन का आश्रय नहीं तथा सम्यग्दर्शन स्वयं भी सम्यग्दर्शन का आश्रय नहीं। परमशुद्ध अखण्ड तत्त्व, वही सम्यग्दर्शन का आश्रय है। श्रद्धा किसकी? अर्थात् श्रद्धा का विषय (ध्येय) क्या? एकरूप परमार्थतत्त्व, वह श्रद्धा का विषय है। समयसार की ग्यारहवीं गाथा में भी इस शुद्धनय की बात है।

परमार्थतत्त्व की श्रद्धा-ज्ञान और अनुष्ठान (स्थिरता, चारित्र), वह रत्नत्रयीस्वरूप मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग सद्भूतव्यवहार है और बीच में शुभ विकल्प आवे, वह असद्भूतव्यवहार है। वह बीच में आता अवश्य है परन्तु उसका आश्रय नहीं है।

इस मार्ग के मनन और सेवन से (इसकी श्रद्धा, ज्ञान और उसमें स्थिरता से) मोक्षफल की प्राप्ति होती है, वह अपने आत्मस्वरूप की सम्पूर्ण प्राप्ति है। यहाँ शुद्धपर्याय की प्राप्ति हुई, उसे आत्मा की उपलब्धि कही। नयी पर्याय प्रगट हुई, इस अपेक्षा से द्रव्य प्राप्त हुआ, ऐसा कह दिया है। वहाँ वास्तव में आत्मा की प्राप्ति नहीं, आत्मा तो नित्य है ही, परन्तु पर्याय में द्रव्य का आरोप करके शुद्धपर्याय प्राप्त होने पर द्रव्य प्राप्त हुआ, ऐसा कहा है। जैसा शुद्धस्वभाव था, वैसा ही पर्याय में प्रगट हुआ; इसलिए कहा है कि 'मोक्षमार्ग के सेवन से आत्मा के पूर्ण स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति होती है।' मोक्ष होने पर पूर्ण निर्मल अवस्था और वस्तु में भेद नहीं रहता; जैसी वस्तु है, वैसी ही उसकी प्रगटरूप पर्याय हो जाती है; इसलिए 'आत्मा ही प्राप्त हुआ,' ऐसा कहा जाता है।

भावार्थ :—निर्वाण में कितने ही आत्मा की नास्ति अथवा शून्यरूप अवस्था मानते हैं और तर्क देते हैं कि 'जैसे दीपक में से धुएँ का नाश करने के लिये दीपक का भी नाश करना पड़ता है; उसी प्रकार आत्मा में से अशुद्धता के नाश करने से आत्मा का भी नाश होता है।' तो यह तर्क मिथ्या है। निर्वाण से आत्मा का नाश नहीं परन्तु पूर्ण शुद्ध पर्याय की प्राप्ति है। अवस्था में विकार का नाश होने पर आत्मा स्वयं ही परमात्मा होता है। परमात्मदशा में एक आत्मा दूसरे आत्मा में (जैसे ज्योति में ज्योति मिल जाये वैसे) मिल नहीं जाता, परन्तु अपनी सत्ता में कायम पृथक् रहता है। मोक्षदशा में आत्मा

शून्य नहीं हो जाता परन्तु सत् ही रहता है और अपने स्वरूप के अतीन्द्रिय परम स्वाद को अनन्त काल भोगता रहता है।

प्रश्न :— आत्मा में किस जाति का स्वाद होगा? स्वाद तो दूधपाक इत्यादि में होता है, परन्तु आत्मा में किसका स्वाद आवे?

उत्तर :— दूधपाक इत्यादि परवस्तु है, पर का स्वाद आत्मा में नहीं, परन्तु आत्मा तो उसका जाननेवाला ही है। रस को जाननेवाला स्वयं ही अरूपी रसस्वरूप है। आत्मा का रस अरूपी-अतीन्द्रिय है। मोक्षदशा में आत्मा अपने पूर्णानन्दस्वरूप का अनुभव करता है।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि

(पृथ्वी)

क्वचिद् व्रजति कामिनीरतिसमुत्थसौख्यं जनः।
क्वचिद् द्रविणरक्षणे मतिमिमां च चक्रे पुनः।।
क्वचिज्जिनवरस्य मार्गमुपलभ्य यः पण्डितो।
निजात्मनि रतो भवेद् व्रजति मुक्तिमेतां हि सः।।९।।

अज्ञानी प्राणी यह दुर्लभ मनुष्यपना, लक्ष्मी की प्राप्ति, स्त्री की प्राप्ति, कुटुम्ब, इज्जत इत्यादि में गँवाकर फिर कहीं (चार गति के भ्रमण में) चला जाता है। और जो चतुर पुरुष हैं, वे वीतरागधर्म की पहिचान करके, आत्मस्वरूप की श्रद्धा करके, उसमें लीन होते हैं। और ऐसे धर्मात्मा ही आत्मा की सम्पूर्ण निर्मल मोक्षदशा की प्राप्ति करते हैं।

(व्याख्यान के बाद)

वस्तु आश्रय करनेयोग्य है और पर्याय आश्रय करनेवाली है। आश्रय करनेवाली पर्याय भेदवाली है परन्तु जिसका आश्रय करती है, वह (द्रव्य) अभेद है। पर्याय स्वयं द्रव्य के आश्रय से है, द्रव्य में भेद नहीं, इसलिए द्रव्य के लक्ष्य से निर्मल पर्याय प्रगट हो जाती है।

सवेरे की चर्चा में से (२४-४-१९४४, शुक्रवार)

श्रोता :— आत्मा का स्वरूप समझने के पश्चात् उसमें स्थिरता किस प्रकार होती है ? स्थिरता का कारण क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री :— नि:शंक स्वभाव को लक्ष्य में लिया है, वह दृष्टि का विषय (वस्तु) स्वयं ही स्थिरता का कारण है। स्वरूप में नि:शंकता, वही सबका (दर्शन-ज्ञान-चारित्र का) मूल है। दृष्टि से जो द्रव्यस्वभाव लक्ष्य में लिया, वह द्रव्य ही स्थिरता का कारण है और चारित्र, वह कार्य है। दृष्टि, चारित्र का कारण है, तो जिसे कारण प्रगट हुआ है, उसे कार्य कैसे आयेगा, ऐसी शंका ही नहीं रहती। जिसे स्थिर स्वभाव की नि:शंकता हुई, उसे स्थिरता कैसे होगी, ऐसा प्रश्न ही नहीं रहता ! जहाँ स्थिरता का प्रश्न है, वहाँ नि:शंकता की कमी है।

स्थिर होने का तो आत्मा का स्वभाव ही है, इसलिए जिसे स्वभाव समझ में आये, उसे स्थिर होने का प्रश्न ही रहे नहीं। लोग झट ध्यान और स्थिरता करना चाहते हैं। परन्तु ध्यान और स्थिरता का कारण जो द्रव्य, उसका स्वरूप नहीं जानते, तो वस्तु का स्वरूप जाने बिना ध्यान किसका और स्थिरता किसमें ? इसलिए पहले वस्तु का स्वरूप जानना। वस्तु का स्वरूप जानने के बाद स्थिरता कैसे होती है, ऐसा प्रश्न ही नहीं रहता, क्योंकि स्थिरता तो वस्तु का स्वभाव है।

(पारिणामिकभाव कहो या द्रव्यत्वगुण कहो - दोनों एक ही है।) जो-जो साधक है, वही बाधक है। (समयसार नाटक) नय, प्रमाण और निक्षेप से समझना, वह भी बाधक है, क्योंकि उसमें भेद आता है और भेद, वह अभेद में बाधक है।

श्री जयधवला पृष्ठ-२५:—पाँच प्रकार के ज्ञानावरण का नाश होने से केवलज्ञान प्रगट होता है। इसलिए सिद्ध होता है कि आत्मा केवलज्ञानस्वरूप है, तथापि उसमें (ज्ञान में) जो मति-श्रुत इत्यादि पाँच प्रकार के भेद बतलाये जाते हैं, उसका कारण यह है कि केवलज्ञानावरणकर्म केवलज्ञानस्वरूप को सम्पूर्णरूप से ढाँक नहीं सकता, क्योंकि यदि ज्ञान में सम्पूर्ण आवरण माने जाये तो ज्ञानरहित आत्मा को जड़त्व प्राप्त होने का प्रसंग आ जाता है, इसलिए ज्ञान का जितना अंश खुला है, उस उघाड़ की अपेक्षा से ज्ञान के मति आदि भेद हैं और पूर्ण उघाड़, वह केवलज्ञान है। ●●●

व्याख्यान नं. ३, दिनांक २२-०४-१९४४, शुक्रवार

गाथा-३

पहली गाथा में असाधारण मांगलिक किया और ग्रन्थ की महिमा बतलायी तथा अनन्त दर्शन-अनन्त ज्ञान के धारक श्री वीर प्रभु को नमस्कार किया।

दूसरी गाथा में मार्ग क्या और मार्गफल क्या, उसका स्वरूप बतलाया।

अब, 'नियम' शब्द के साथ 'सार' शब्द का सम्बन्ध कैसे है? यह बतलाते हैं:—

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।३।।

नियमेन च यत्कार्यं स नियमो ज्ञानदर्शनचारित्रम्।
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम्।।३।।

सहज परमपारिणामिकभाव में स्थित अनन्त चतुष्टयात्मक स्वभाव अर्थात् सहज अनन्त ज्ञान, सहज अनन्त दर्शन, सहज अनन्त आनन्द और सहज अनन्त वीर्य, इस अनन्त चतुष्टयस्वरूप जो शुद्ध ज्ञानचेतना परिणाम है, वह नियम है।

मनुष्य अवतार में जो खास करके (निश्चित) करनेयोग्य, उसका नाम नियम है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही नियम है। सम्यग्दर्शन, वह पहले में पहला नियम है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह स्वयं ही नियम है। नियम दूसरी चीज़ नहीं है। बाह्य व्रतादि नियम नहीं। व्रतादि तो सम्यग्दर्शनसहित हों, तो शुभव्रत कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन बिना तो नियम हो ही नहीं सकता। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को नियम कहा, उससे विरुद्ध हो, वह कोई नियम नहीं है।

पहला शुरुआत का नियम सम्यग्दर्शन है। पश्चात् स्वरूप में स्थिरता, वह विशेष नियम है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त बीच में व्रत, तप आवे, वह कोई नियम नहीं—मोक्षमार्ग नहीं।

निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही निश्चय से नियम है। उससे विरुद्ध शुभ

विकल्प भी नियम नहीं है, इसलिए 'निश्चय से सार' ऐसा वचन कहा है। पुण्य-पाप सब असार है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् व्रत और महाव्रत आवे सही, परन्तु वह सार नहीं। सार तो स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और उसमें स्थिरता, वही है। इसलिए 'सार' ऐसा विशेषण कहा है।

इस गाथा में 'नियम' शब्द का सारपना बतलाने के लिये स्वभाव रत्नत्रय का स्वरूप कहा है। व्रत-महाव्रत, वह स्वभाव रत्नत्रय नहीं, परन्तु विभाव है, क्योंकि उसमें राग है। राग, वह स्वभाव नहीं। नियमसार कहने से स्वाश्रय निर्मल शुद्ध स्वभाव है। उसके आधार से श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता, वही स्वभाव रत्नत्रयी नियम है।

कर्म के निमित्त से होते पुण्य-पाप के भाव कृत्रिम हैं। उन कृत्रिम भावों से रहित जो सहज स्वाभाविक भाव (अपना उत्कृष्ट पारिणामिकभाव) उसमें स्थिर है और जो स्वभाव से अनन्त दर्शन-ज्ञान-आनन्द और वीर्य, ऐसे स्वचतुष्टय सम्पन्न है। (अनन्त चतुष्टयस्वरूप स्वभाव है) तथा जो शुद्ध चेतन के परिणाम (निर्मल ज्ञान की अवस्था), वह नियम है। आचार्यदेव को अभी केवलज्ञान हुआ नहीं परन्तु पूर्ण स्वरूप की भावना भाकर केवल (ज्ञान) लेना चाहते हैं, आंशिक हीन की भी बात नहीं ली है। परम सहजपारिणामिकभाव में स्थिरता में न्यून का लक्ष्य है ही नहीं।

मोक्षमार्ग है, वह परिणाम (निर्मल अवस्था) है। शुद्ध निर्मल चेतन की अवस्था, वह नियम है। वास्तव में प्रयोजनभूत कार्य (विशेष जुड़ना, व्यवस्था करना, वह प्रयोजन) दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है।

अनन्त चतुष्टय प्रगट होने का कारण जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीर्य, वह अनन्त चतुष्टयस्वरूप ही है। यहाँ प्रगट गये की बात नहीं परन्तु प्रगट होने का जो उपाय, उसके कारण यहाँ कहा है। कारण में कार्य आ ही जाता है। मार्ग लिया, वहाँ अनन्त चतुष्टय उसमें समाहित हो गये हैं। यहाँ मोक्ष और मोक्षमार्ग दोनों अभेद लिये हैं।

'शुद्ध द्रव्य का परिणाम, वह नियम' ऐसा नहीं लेकर 'शुद्ध चेतना का परिणाम, वह नियम'—ऐसा लिया है। निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वही कार्य है और वही नियम है।

दर्शन का निश्चयस्वरूप ऐसा है कि—भगवान परमात्मस्वभाव के अतीन्द्रिय सुख की रुचि करनेवाले जीव में शुद्ध अन्तरंग आत्मिक तत्त्व के आनन्द को उपजने का धाम, ऐसा शुद्ध जीवास्तिकाय का (अपने जीवस्वरूप का) परम श्रद्धान, दृढ़ प्रतीति और सच्चा निश्चय, वही दर्शन है।

पहली बात ही सुख की है। जिसे इन्द्रिय के विषयों में सुखबुद्धि टल गयी है, उसे ही आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की रुचि है। जिसे पर में सुखबुद्धि है, उसका आह्लाद पर में जाता है और उसके सब कार्य (सुख के लिये)। निष्फल जाते हैं। अपना निर्मल स्वभाव ऐसा शुद्ध जीवास्ति, वही आनन्द उपजने का स्थान है और उसकी दृढ़ प्रतीति, वही सम्यक्त्व है।

ज्ञान की व्याख्या—ज्ञान ज्ञान ही करे; पर को जानने में भी ज्ञान ज्ञान का ही अवलम्बन करता है, पर का अवलम्बन ज्ञान को नहीं है। अनन्त आत्मा याद किये वह भी ज्ञान की पर्याय है, इसलिए पर का अवलम्बन किये बिना अन्तरंग में ही अपना ज्ञान का व्यापार रखकर अन्तर्मुख जुड़ान में उपयोग को झुकाकर, अपनी ज्ञान की अवस्था में निकट (अपनी पर्याय से दूर न जाकर) अपने आत्मिक परमतत्त्व का 'यही उपादेय वस्तु है' ऐसा ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है। स्वयं जाननेवाला स्वभावी है, उससे ही ज्ञान होता है। कान द्वारा शब्द सुने इत्यादि पाँच इन्द्रियाँ या शरीर से ज्ञान नहीं होता। पर के अवलम्बन बिना का जो ज्ञानस्वभाव है, वह परम ज्ञान, वही परम उपादेय है। इसके अतिरिक्त कोई परद्रव्य या शुभविकल्प भी ग्रहण करनेयोग्य नहीं है।

चारित्र की व्याख्या—निश्चय दर्शन-ज्ञानमय (दृष्टा-ज्ञातास्वरूप) कारणपरमात्मा (जिसमें दृष्टा-ज्ञाता शक्ति कायम है, ऐसा द्रव्य), उसमें अविचल दृढ़ता से लवलीन (चलित न हो इस प्रकार से तन्मय) हो जाना, वह चारित्र है। यहाँ 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय में लवलीन' ऐसा नहीं कहा परन्तु वस्तु जो कारणपरमात्मा, उसमें लवलीन हो जाना, वह चारित्र है; द्रव्य कारण है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र कार्य है। 'दर्शन-ज्ञानमय' वस्तु को यहाँ कारण कहा है। द्रव्य, वह कायमी—त्रिकाल एकरूप कारण है और चारित्र, वह कार्य है; निश्चय से चारित्ररूप कार्य का कारण द्रव्य है। सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान नहीं। सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान की पर्याय के ऊपर लक्ष्य से चारित्र प्रगट नहीं

होता, परन्तु कायमी द्रव्य जो त्रिकाल एकरूप कारण है, उसमें लीन होने से चारित्र प्रगट होता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान में जितनी शुद्धता उघड़ी है, उसमें अभी अधूराश है, तो अधूराश में से पूर्णता कैसे आवे? दर्शन-ज्ञान में से चारित्र की विशेष स्थिरता नहीं आती, परन्तु दर्शन-ज्ञानमय द्रव्य में एकाग्र होने से चारित्र प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन की पर्याय तो एक समयमात्र की है, एक समय की पर्याय में दूसरी पर्याय नहीं, जो पर्याय दूसरे समय में नहीं, वह शुद्धता का कारण कैसे होगी? तीनों काल की पर्याय एक समय में आ नहीं सकती, एक पर्याय का नाश (व्यय) होने के बाद दूसरी अवस्था होती है। पर्याय का अर्थ ही क्रमवर्तीपना, (एक के बाद एकपना) है। इसलिए पर्याय तो एक समय में एक ही होती है; यदि एक समय में तीनों काल की पर्यायें साथ में आ जायें तो दूसरे समय में पर्याय न रहे और पर्याय बिना द्रव्य शून्य हो जाये।

निर्मल कायमी एकरूप टिकते स्वभाव से भरपूर द्रव्य की रुचि, ज्ञान और उसमें एकरूप से स्थिर होना, वह नियम है और वह नियम ही मोक्ष का कारण है। लोग बाहर में नियम... नियम... करते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन, वही पहले में पहला नियम है, तत्पश्चात् जो ज्ञान और चारित्र, वह विशेष नियम है। बाहर के नियम, वे नियम ही नहीं हैं। यह जो नियम कहा जाता है, वही आत्मा की पूर्ण शुद्धता का कारण है। कारण सदृश (समान, जैसा) कार्य होता है। स्वरूप स्थिरता का बारम्बार अभ्यास ही वास्तव में अनन्त काल तक वस्तुस्वरूप में स्थिर रह जाने का उपाय है।

जो स्वरूप में स्थिरता हुई, वह स्वरूप स्वयं त्रिकाली है, इसलिए उसमें सादि-अनन्त स्थिर रह सकेगा। यही सार है, यह ऊँचे में ऊँचा (अच्छा, हित) करने का उपाय है; इसके अतिरिक्त सब असार है। विकल्प है, इस अपेक्षा से सब असार है। सार तो आत्मा में कायम रहे, वह है। पापभाव तो असार (छोड़नेयोग्य) है ही। जहाँ पुण्यभाव भी छोड़ने का कहा, वहाँ पाप रखने की बात तो होगी ही कैसी? यहाँ तो कहते हैं कि बारह व्रत और पंच महाव्रत के सब विकल्प, वे भी मोक्षमार्ग से विपरीत हैं—असार हैं, त्यागनेयोग्य हैं और शुद्ध आत्मा ही सारभूत है; इसलिए यहाँ 'नियम' के साथ 'सार' शब्द रखा है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त सब मोक्षमार्ग से विपरीत है।

नियम अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के ओर की झुकावदशा-वही सार है और पर की ओर का भाव सब असार है। ऐसे प्रयोजन से नियम के साथ सार शब्द रखा है।

अब टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं—

(आर्या)

इति विपरीतविमुक्तं रत्नत्रयमनुत्तमं प्रपद्याहम्।
अपुनर्भव-भामिन्यां समुद्भव-मनङ्गशं यामि।।१०।।

विपरीत स्वरूप से रहित, अनुपम, सर्वश्रेष्ठ दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय स्वरूप को प्राप्त करके मुक्तिरूपी स्त्री से उत्पन्न अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनन्द के विलास को प्राप्त करता हूँ। यहाँ आचार्यदेव कारण में ही कार्य की पूर्णता देख रहे हैं। अवस्था होती है, वह वस्तु बिना नहीं होती, इसलिए वस्तुदृष्टि और वस्तु में भेद नहीं देखते। स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द की मौज-विलास-आह्लाद को प्राप्त करता हूँ। इस प्रकार दृष्टि में पूर्ण ही देखते हैं। अभी पूर्ण का उत्पाद नहीं, तथापि श्रद्धा में पूर्ण का ही आनन्द है, दृष्टि के विषय में अधूराश नहीं होती।

★★★★★

गाथा-४

अब कहते हैं कि रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की पृथक्ता करके उसका वर्णन करना आवश्यक है:—

णियमं मोक्खउवाओ तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं।
एदेसिं तिण्हं पि य पत्तेय-परूवणा होई।।४।।

नियमो मोक्षोपायस्तस्य फलं भवति परमनिर्वाणम्।
एतेषां त्रयाणा-मपि च प्रत्येक-प्ररूपणा भवति।।४।।

मोक्ष का उपाय, वह नियम है; और वह नियम धारण करने का फल मोक्ष है— परम निर्वाण है। भावमुक्ति तो तेरहवें गुणस्थान में हो जाती है और सिद्धदशा में परम मुक्तदशा है। नियम दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है, इसलिए इन तीनों का पृथक्-पृथक् वर्णन अब बाद की गाथा में कहा जायेगा।

प्रवाहरूप से अनादि और नया बँधे, इस अपेक्षा से सादि, इस प्रकार अनादि तथा सादि काल से संसारी जीव को लगे हुए समस्त कर्मों के छूट जाने से जो उपमारहित महा-निरूपम, अविनाशी, अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है, वही सदा आनन्दस्वरूप परम निर्वाण अर्थात् मोक्ष है।

किसी भी जाति की आकुलता-खेद-हर्ष उन सबका नाश और अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति, वह परम निर्वाण है। सुखगुण की मुख्यता से व्याख्या की है, (क्योंकि) जगत का ध्येय सुख का है। परम आनन्दस्वरूप आत्मा ही है, उसकी रुचि से लेकर परमानन्द की प्राप्ति तक मोक्षमार्ग और परम आनन्द की प्राप्ति, वह मोक्ष। द्रव्य में त्रिकाल आनन्द था, वह पर्याय में पूर्ण हो गया, इसका नाम मोक्ष। (यहाँ आनन्दगुण की मुख्यता से कहा है। आनन्दगुण पूर्ण होने पर ज्ञानादि सब गुण पूर्ण हो जाते हैं, ज्ञान का फल आनन्द है)। आनन्द की प्राप्ति का लाभ, वही मोक्ष है तथा आत्मा की अभेद-रत्नत्रयरूप (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप) परिणति, वही महा आनन्द की प्राप्ति का (मोक्ष का) कारण है।

इस प्रकार, यद्यपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता, वही मोक्ष का उपाय

है—परन्तु—इन तीनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप जाने बिना उनकी एकतारूप स्वरूप की एकाग्रता नहीं हो सकती, इसलिए आचार्य महाराज दर्शन-ज्ञान-चारित्र का भिन्न-भिन्न स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि—

(मन्दाक्रान्ता)

मोक्षोपायो भवति यमिनां शुद्धरत्नत्रयात्मा।
ह्यात्मा ज्ञानं न पुनरपरं दृष्टिरन्याऽपि नैव।।
शीलं तावन्न भवति परं मोक्षुभिः प्रोक्तमेतद्।
बुद्ध्वा जन्तुर्न पुनरुदरं याति मातुः स भव्यः।।११।।

धर्मात्मा मुनि के लिये शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप अपने आत्मा में लीन होना, वही मोक्ष का उपाय है। यहाँ 'आत्मा का होना' ऐसा कहने में पर्याय को आत्मा गिना है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र, वह पर्याय है। पर्याय का विकल्प होना, वह आत्मा नहीं। सम्यग्दर्शन इत्यादि आत्मा की शुद्धपर्याय होने से उसे यहाँ आत्मा कहा है, वास्तव में तो वह रत्नत्रयपर्याय है और आत्मा ध्रुव है, परन्तु पर्याय उस द्रव्य से अभेद है, इस अपेक्षा से 'शुद्धरत्नत्रयस्वरूप अपने आत्मा का होना, वह मोक्ष का उपाय है।' ऐसा कहा है।

शास्त्र में किसी समय कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह पर्याय है तथा किसी समय कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही आत्मा है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा के वाक्य आते हैं, वहाँ नयप्रमाण समझना चाहिए। यहाँ 'स्व-पर्याय' वह आत्मा ही है, आत्मा की निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त दूसरे दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं। नौ तत्त्व की यथार्थ श्रद्धा, वह दर्शन नहीं; ग्यारह अंग का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं और पंच महाव्रत-अट्ठाईस मूलगुणसहित पालन करे, तो भी वह चारित्र नहीं, ऐसा संसार से मुक्त ऐसे श्री अरिहन्त भगवान ने कहा है; यह जानकर भव्य जीव (लायक प्राणी) कभी माता के गर्भ में जन्मता नहीं-पुनर्जन्म पाता नहीं। अर्थात् उसे नया जन्म धारण नहीं करना पड़ता, ऐसा एकरूप स्वभाव जानकर उसमें स्थिर हो तो उसे जन्म-मरण करना नहीं पड़ते, यह एक ही उपाय कहा है।

गाथा-५

आगे व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं :—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं।
ववगय असेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।।५।।

आप्तागमतत्त्वानां श्रद्धानाद्भवति सम्यक्त्वम्।
व्यपगताशेषदोषः सकलगुणात्मा भवेदाप्तः।।५।।

यहाँ यद्यपि भेद पाड़कर समझाते हैं तो भी अभेद समझाने के लिये है, अभेद समझाने पर बीच में क्या आता है, यह बताते हैं....

व्याख्यान के बाद

पूर्ण दशा होने से पहले पूर्ण की श्रद्धा की बात है। पूर्ण होने के पश्चात् यह कुछ करना नहीं रहता। यह तो समकिती को पूर्ण होने से पहले पूर्ण की आगाही (श्रद्धा) कैसी आ जाती है, उसका स्वरूप बताते हैं।

व्याख्यान नं. ४, दिनांक २३-०४-१९४४, रविवार

गाथा पाँचवीं। पहली गाथा में असाधारण मांगलिक कहा; दूसरी गाथा में मार्ग और मार्गफल कहा; तीसरी गाथा में 'नियम' के साथ 'सार' शब्द क्यों रखा है, यह बताया; चौथी गाथा में नियम की व्याख्या की; अब, पाँचवीं गाथा में व्यवहार समकित का स्वरूप बतलाते हैं कि जो निश्चय श्रद्धा में निमित्त हो।

पहले सत्देव-गुरु की यथार्थ श्रद्धारूप व्यवहार होता है। निश्चय श्रद्धा तो आत्मा के स्वभाव की है, उसमें सच्चे देव और सच्चे गुरु की श्रद्धा का निमित्त होता है। सच्चे देव-गुरु की श्रद्धा, वह पुण्य का कारण है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन कब होता है, यह कहा जाता है।

आप्त — आगम के देव—उनकी सच्ची श्रद्धा चाहिए। जिनकी वाणी द्वारा शास्त्र रचना होती है, वे वीतरागदेव कैसे होते हैं, उनकी सच्ची पहिचान चाहिए। आप्त अर्थात् आगम के इष्ट देव, उन्हें आप्त कहा जाता है।

आगम — जिनवाणी, वीतराग की वाणी। आगम में वर्णन किये हुए तत्त्वों की श्रद्धा करने से व्यवहार समकित होता है। अर्थात् उस आत्मा की श्रद्धा में निमित्त हो, ऐसी व्यवहार श्रद्धा होती है। शास्त्र के पूर्ण कथित ऐसे आप्त कैसे होते हैं? कि समस्त दोषरहित और समस्त गुणसहित होती है।

देव के दो प्रकार हैं। एक पुण्य में बड़े, वे लौकिक देव हैं और दूसरे जिन्हें आत्मा की पूर्ण शक्ति प्रगट हुई है, वे सच्चे देव हैं, उनकी पहिचान बिना सच्चे आत्मदेव की (आत्मस्वरूप की) पहिचान नहीं होती। प्रत्येक आत्मार्थी को पूजनेयोग्य देव, वे आप्त हैं; अथवा पूर्ण शास्त्र को वाणी द्वारा कहनेवाले, सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष आदि दोषों से विमुक्त, तीन काल-तीन लोक का तथा आत्मपदार्थ का जिन्हें ज्ञान है, ऐसे सर्वज्ञ और आत्म गुणों से जो शोभित हैं, वे आप्त देव हैं; और वे शंकारहित हैं, मोह और राग-द्वेष को शंका कहा जाता है, वह जिन्हें नहीं है, वे देव हैं। नि:शंक आत्मस्वभाव की श्रद्धा और स्थिरता प्रगट हुई है तथा दर्शनमोह और चारित्रमोह का अभाव होने से पूर्ण नि:शंकता है, वे ही परमात्मा पूजनेयोग्य हैं।

सच्चे वक्ता कैसे होते हैं :— ऐसे सम्पूर्ण गुणवाले वक्ता ही पर को हितरूप सच्चा उपदेश दे सकते हैं। जिनमें अपने में ही अवगुण हों, वे सच्चा उपदेश नहीं दे सकते। वीतराग की वाणी में ही सम्पूर्ण सत्य उपदेश आता है। स्नेह या भयवाला सत्य नहीं कह सकता। हाथ में हथियार इत्यादि हो, वह सच्चा देव नहीं है और काम या निद्रावाला सच्चा वक्ता नहीं कहलाता। जगत का कर्तृत्व हो, वह आप्त नहीं है। निद्रा, वह प्रमाद है, पूर्णदशा में प्रमाद नहीं हो सकता। जगत के जीव पाप करते हैं, इसलिए उन्हें दण्ड देना, ऐसी कर्तृत्व की मान्यता के दोष से जो लिप्त है, उसके वचन निर्दोष नहीं हो सकते। भक्त का उद्धार करना, उसमें राग है। भगवान को राग नहीं होता। वाणी का योग हो तो समझावे और सामनेवाला अपनी योग्यता से समझे। तो वाणी को निमित्त कहा जाता है।

जिन्हें मोह-रागादि सर्व दोष टल गये हैं, ऐसा वीतराग का ही वचन वीतरागमय होता है, इसलिए अरिहन्त भगवान ही सच्चे आप्त-देव हैं। यह तो अभी सच्चे देवों का स्वरूप कहा जाता है, उसे यथार्थ जाने, तब तो अभी व्यवहारश्रद्धा हुई कहलाती है। सच्चे निमित्त का स्वरूप पहले जानना चाहिए। कुदेवादि सत् के निमित्त नहीं हो सकते, सत् का निमित्त भी सत् ही होता है। निमित्त अर्थात् उपस्थिति, साथ; निमित्त कुछ कर नहीं देता। साथीदार हो वह हिम्मत नहीं दे देता परन्तु अपने में हिम्मत हो तब साथीदार को निमित्त कहा जाता है।

जिनकी शान्तमुद्रा है, माला फिराते नहीं, हथियार नहीं, वस्त्र नहीं—अत्यन्त निर्ग्रन्थ हैं, ऐसे अत्यन्त निर्दोष वीतराग की प्रतिमा को देखकर तथा भक्ति-पूजन करके, परम वीतरागरूप निमित्त के संयोग की प्राप्ति होने से भव्य जीव अपने भावों को उज्ज्वल, विशुद्ध और वैराग्यमय करता है। वर्तमान में इस भरतक्षेत्र में साक्षात् तीर्थंकरदेव नहीं हैं, इसलिए उनकी निर्दोष प्रतिमा को पहिचानकर उसे देव मानने को कहा है। जिन्हें भक्ति करनेवाले इन्द्र के प्रति राग नहीं या निन्दा करनेवाले के प्रति द्वेष नहीं, ऐसे आप्त पुरुष सच्चे देव हैं। ऐसे आप्त पुरुष के साक्षात् मुख कमल से निकली हुई दिव्यध्वनि (दिव्य=प्रधान; ध्वनि=आवाज; उत्कृष्ट में उत्कृष्ट आवाज), वही सत्य आगम है। वे जगत के सब पदार्थों का द्रव्य-गुण-पर्याय काल-भाव इत्यादि अनेक प्रकार से

विस्तार करके यथार्थ स्वरूप समझाते हैं। एक द्रव्य के अनन्त गुण-पर्याय और उनके अविभागप्रतिच्छेद करके वर्णन करते हैं और वह सब वस्तु का समर्थन करते हैं—जिस प्रकार से है, उस प्रकार प्रसिद्ध करते हैं, गड़बड़ी नहीं है। जैसे-जैसे विस्तार करते हैं, वैसे-वैसे वस्तु का समर्थन ही होता है। 'ऐसा चाहिए अथवा ऐसा चाहिए' ऐसी शंकासहित वाणी नहीं परन्तु 'ऐसा ही स्वरूप है' ऐसे वस्तु को स्वरूप को जैसा है, वैसा समर्थन करे—एक द्रव्य में अनन्त गुण, एक-एक गुण की अनन्त पर्याय और एक-एक पर्याय में अनन्त अविभागप्रतिच्छेद और अविभागप्रतिच्छेद के एक अंश में अनन्त शक्ति; इस प्रकार सब वीतराग आगम ही कह सकता है।

और सर्वज्ञ आप्तदेव कैसे हैं, वह कहते हैं :—

चतुर हैं, समर्थ—दक्ष हैं, पूर्ण ज्ञान वर्तता है। कोई पूछे और फिर उसका जवाब दिया करे, ऐसा नहीं। परन्तु प्रथम से ही वस्तु का ज्ञान है और जैसा वस्तु का ज्ञान है, वैसा ही प्रत्येक समय में वाणी में आ जाता है। आत्मा अथवा कर्म कोई चीज़ ही नहीं है, ऐसा कहकर 'अनिर्वचनीय' कह दिया, ऐसा नहीं; परन्तु सच्चे पदार्थ के विस्तार के समर्थन में प्रवीण हैं। वस्तुस्वरूप 'सर्वथा अनिर्वचनीय' नहीं, ज्ञान में गम्भीरता रह जाये, वह बात अलग है। कोई कहे—कर्म पदार्थ ही नहीं हैं, तो वहाँ 'नहीं' कहते ही 'है' ऐसा भास उसमें आ जाता है। कुछ है—और जो है, उसका स्वरूप नहीं जाना, इसलिए वह सर्वज्ञ नहीं है।

आगम में तत्त्वों का स्वरूप बतलाया है। एक अन्तरंग तत्त्व परमात्मा (यहाँ जीव को ही परमात्मा कहा है) और दूसरा बाह्य तत्त्व, आत्मा से भिन्न पदार्थ-वे भी हैं। नहीं, ऐसा नहीं। वे आत्मा में नहीं परन्तु वस्तुरूप से तो है। अकेला आत्मा ही माने और दूसरी वस्तु को न माने तो उसे तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है, उसे तो पुण्य का भी ठिकाना नहीं है।

ऊपर कहे अनुसार दो तत्त्व हैं अथवा दूसरे प्रकार से सात तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वों की आगम में व्याख्या की है।

(१) आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है।

(२) उसे अनादि से पुद्गलकर्म का संयोग एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध है। पुद्गल भी स्वभाववस्तु है।

(३) जीव के विकारीभाव, पुद्गलकर्म का आना, वह आस्रव है।

(४) जीव के विकारीभाव, कर्म का आत्मा के स्वक्षेत्र में साथ में रहना, वह बन्ध।

(५) जीव के शुद्धभाव से कर्म का आना रुक जाना, वह संवर है।

(६) संवरपूर्वक पुराने कर्मों का खिर जाना, वह निर्जरा है। तथा

(७) आत्मा में कर्मों का सर्वथा नाश करने की शक्ति भी है, कर्म का सर्वथा नाश, वह मोक्ष है।

—इस प्रकार सात तत्त्वों के स्वरूप का प्रदर्शन करानेवाला आगम है। आस्रव में पुण्य-पाप आ जाते हैं, इसलिए यहाँ सात तत्त्व गिने हैं। कोई सर्वथा एकान्त कहे कि 'आत्मा को कर्म का सर्वथा नाश होता ही नहीं अर्थात् कि मोक्ष होता ही नहीं' तो ऐसा कहनेवाला आगम को नहीं समझता। पहले शब्द क्या है, वह समझना चाहिए। समझ ही प्रथम धर्म है। भेद अनेक हों, परन्तु उसमें सर्वज्ञ भगवान ने कहा हुआ सत्य मार्ग तो एक ही होगा। श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मसिद्धि में कहा है कि —

'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ'

तीन काल में सत्य का मार्ग तो एक ही होता है। प्रथम सच्चे आगम और आगम अनुसार तत्त्व की श्रद्धा करने से व्यवहारश्रद्धा होती है। निमित्तरूप से आत्मा के कल्याण का हेतु सर्वज्ञदेव हैं। स्त्री, कुटुम्ब, कुदेवादि या कोई अल्पज्ञदेव कल्याण के हेतु नहीं हैं। जिन्हें परमात्मदशा प्रगटी नहीं है, ऐसे जीव या उनके कहे हुए शास्त्र वे कल्याण के हेतु नहीं हैं; इसलिए प्रथम सर्वज्ञ का निश्चय होना चाहिए। सर्वज्ञ का निश्चय होने पर उनके कहे हुए शास्त्र और तत्त्वों का निश्चय सहज हो जाता है। सर्वज्ञ का निर्दोष स्वरूप पहिचाने बिना तत्त्व की सच्ची श्रद्धा नहीं होती।

टीकाकार कहते हैं कि—

(आर्या)

भवभयभेदिनि भगवति भवतः किम्भक्तिरत्र न समस्ति।
तर्हि भवाम्बुधि-मध्य-ग्राह-मुखान्तर्गतो भवसि।।१२।।

हे संसार के त्रास को मिटानेवाली, भवभयभेदिनी आत्मा के आनन्दघन स्वरूप को बतलानेवाली भगवती जिनवाणी! जो इसलोक में तेरी भक्ति नहीं करते, वे संसारसमुद्र के मध्य में दुःखरूपी ग्राह (बड़े झूड नामक जानवर होता है, वह हाथी को भी बाँध ले ऐसा होता है, उसी प्रकार) उसके मुख में चला जाता है। वीतराग को नहीं पहिचानता और उनकी भक्ति नहीं करता वह संसारसमुद्र में चला जाता है।

गाथा-६

अब अरिहन्त को अठारह दोष नहीं होते, उन अठारह दोषों का वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं —

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेदो मदो रइ विम्हिय णिद्दा जणुव्वेगो।।६।।

क्षुधा तृष्णा भयं रोषो रागो मोहश्चिन्ता जरा रुजा मृत्युः।
स्वेदः खेदो मदो रतिः विस्मय-निद्रे जन्मोद्वेगौ।।६।।

भगवान श्री अरिहन्तदेव को निम्न अठारह दोष नहीं होते—

१—क्षुधा नहीं होती, २—तृषा नहीं होती, ३—भय नहीं होता, पूर्ण स्वरूप में भय क्या? ४—क्रोध नहीं होता, ५—राग नहीं होता, ६—मोह नहीं होता, ७—चिन्ता नहीं होती, ८—जरा नहीं होती, शरीर में जीर्णता नहीं आती। यह शरीर का वर्णन तो पुण्यप्रकृति का कैसा उदय है, उसका वर्णन है। स्वभाव की ऐसी पवित्रता उघड़ी है कि उससे पुण्यप्रकृति भी ऐसी हो गयी है कि शरीर के परमाणु बदल गये हैं। ९— रोग नहीं होता;

प्रश्न—कर्म तो बाकी है।

उत्तर—कोई कर्म ऐसा नहीं है कि जिस कारण से शरीर में रोग आवे।

१०—मृत्यु नहीं, क्योंकि देह का छूटना, वह मरण नहीं है, परन्तु एक देह छोड़ने के बाद दूसरी देह धारण करना पड़े, वह मरण है। ११—पसीना नहीं होता, १२—खेद नहीं होता, १३—अभिमान नहीं होता, १४—रति नहीं होती। रति अर्थात् प्रसन्न होना, वह राग है। राग भगवान को नहीं है। सुखी नहीं, इसलिए कहीं मुख शोक में नहीं होता, स्वरूप का आनन्द तो है, परन्तु विकार का सुखीपना नहीं है। भगवान को देह की क्रिया प्रारब्धयोग से है, उसमें भगवान को इच्छा नहीं। १५—विस्मय नहीं, विस्मय अर्थात् आश्चर्य तो कुछ जाना न हो, उसमें होता है, परन्तु भगवान ने न जाना हो, ऐसा कुछ भी नहीं होता और जो जाना है, उसमें आश्चर्य नहीं होता।

कोई कहे—मुम्बई में होनारत का अकस्मात् हुआ, उसका भी आश्चर्य नहीं?

इसका उत्तर—अकस्मात् कुछ भी होता ही नहीं। जो होता है, वह सब व्यवस्थित ही है। नहीं जाननेवाला कुछ भी नया बनता नहीं। जिस प्रमाण अवस्था की व्यवस्था है तद्नुसार ही होता है, उसमें फेरफार करने में कोई समर्थ नहीं है। मात्र अपने भाव में समता रखे या विसमता रखे, वह जीव कर सकता है। शरीरादि परवस्तु है, वह रहनेवाली हो तो टलती नहीं और स्थिति न हो तो चाहे जो करो, परन्तु रहती नहीं। अपने भाव में अन्तर कर सकता है, बाहर में सुविधा या असुविधा नहीं, मात्र कल्पना है। भगवान ने सब जाना होने से विस्मय नहीं है।

१६—निद्रा नहीं होती। स्वरूप में जागृति ही वर्तती है। १७—जन्म नहीं होता और १८—आकुलता नहीं होती। इस प्रकार अठारह महादोष भगवान को नहीं होते।

विशेषः—क्षुधा—असातावेदनीय के तीव्र या मन्द उदय से चित्त में क्लेश होना अर्थात् भूख की पीड़ा, वह क्षुधा है। असाता का उदय तो निमित्त है, उसमें जुड़कर अन्दर जितना विकारीभाव हो, वह क्षुधा है। केवली भगवान को मोह का अभाव होने से उन्हें वेदनीय कर्म क्षुधा उत्पन्न नहीं कर सकता। भगवान को वेदनीय कर्म है, परन्तु उसमें रति या अरति नहीं है। यदि साता के समय रति और असाता के समय अरति हो तो वह क्षुधा का वेदन कराने में समर्थ है, परन्तु मोह के नाश से केवली भगवान तो

अपने आनन्दमय स्वरूप के अनुभव में लीन हो गये हैं। और अतीन्द्रिय अनन्त सुख का भोग कर रहे हैं; उस अनुभव स्वाद से (आत्मउपयोग से छूटकर असाता में भगवान का जुड़ान हो और फिर भोजन द्वारा असाता का दुःख मिटाकर फिर साता आवे और तत्पश्चात् अन्तर उपयोग में भगवान जुड़ें, ऐसा नहीं होता।)

कोई अज्ञानी केवली को हमेशा आहार करनेवाला सिद्ध करते हैं तथा भगवान का शरीर हमेशा आहार करते हैं, इसलिए सुन्दर रहता है, ऐसा कहकर भगवान को आहार आदि के आहारक ठहराते हैं, परन्तु केवली को ऐसा आहारादि कुछ नहीं होता। उनका शरीर ही परम औदारिक होता है, नोकर्म के रजकण शरीर में आते हैं। अनन्त चतुष्टयवाले सर्वज्ञ को आहार कहना, वह अनन्त चतुष्टय में विघ्नरूप है। अन्तरायकर्म का नाश होने से अनन्त बल के धनी हुए हैं, उन्हें भूख की मलिनता नहीं होती। जहाँ देव का स्वरूप ही विकृत माने, वहाँ सच्चे धर्म के स्वरूप की श्रद्धा ही कहाँ रही?

स्वर्ग के देव को पुण्य के फल में कण्ठ में से एक बूँद आवे और उसे हजारों वर्ष आहार न लेना पड़े, साधारण लौकिक पुण्य के फल में भी इतने वर्ष आहार नहीं होता, तो केवली को आहार कैसे होगा? केवली को तो समय-समय में स्वामृत—आत्मानन्द का भोजन (स्वरूप का अनुभव) है।

२— तृषा—असाता के तीव्र, तीव्रतर मन्द और मन्दतर उदय में जुड़ने से आकुलता होना, इसका नाम क्षुधा है। भगवान को मोह नहीं होने से तृषा नहीं है। अमुक पानी पीवे तो ही शरीर बराबर रहे, ऐसा नियम नहीं है। कितने ही एक दिन में दो सेर पानी पीते हैं और कितने ही पन्द्रह सेर पी जाते हैं, वह पानी पीने से साता रहती है, ऐसा नहीं है। असाता के भी बहुत प्रकार हैं, तृषा भी असाता का भेद है। निरन्तर आत्मरस के पीनेवाले भगवान को क्षणिक तृषा टालनेवाली ऐसी पानी की तृषा कैसे होगी? होती ही नहीं।

इस प्रकार दो दोषों का वर्णन विस्तार से किया। अब अन्य दोषों की व्याख्या कही जायेगी।

★★★★★

व्याख्यान नं. ५, दिनांक २४-०४-१९४४, सोमवार

गाथा छठवीं चालू।

भगवान अरिहन्त के स्वरूप का वर्णन चलता है, क्योंकि कल्याण अर्थी को अपने कल्याण के लिये माननेयोग्य ऐसे सच्चे देव का स्वरूप जाने बिना आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं जाना जा सकता। जिसे प्रथम देव-गुरु के स्वरूप में ही गड़बड़ है, उसे धर्म में भी गड़बड़ होती ही है।

भगवान को शरीर होने पर भी आहार नहीं होता। वेदनीय की असाता अनन्तवें भाग में है, परन्तु आहार या आहार की इच्छा नहीं; तथा तृषा नहीं अर्थात् पानी या पानी की इच्छा नहीं। इन दो दोषों का वर्णन कहा गया है, अब दूसरे दोषों की व्याख्या करते हैं।

३—भय—देव नाम धरावे और हाथ में हथियार रखा हुआ हो तो वह सच्चा देव नहीं है, क्योंकि हथियार हो तो, 'कुछ भय है' ऐसा सूचित करता है और देव को भय नहीं होता। भगवान भयमुक्त विराजते हैं।

प्रश्न - भगवान दूसरे की देखरेख रखते हैं न?

उत्तर - भगवान तीन काल में किसी की देखरेख नहीं रखते। देखरेख रखे किसकी? आत्मा तो स्वतन्त्र पदार्थ है। उसका स्वरूप पराधीन नहीं कि दूसरे को देखरेख रखनी पड़े। प्रत्येक स्वयं अपने से ही रक्षित है।

भय के सात प्रकार हैं, इसलोक, परलोक, अगुप्ति, अरक्षा, मरण, वेदना और आकस्मिक, यह सात भय भगवान को नहीं हैं। भगवान को इन्द्रियजनित सुख नहीं है। शरीर सम्बन्धी या संसार सम्बन्धी भोग का सुख नहीं है, आत्मा के ही सुख का भोगवटा है। और उन्हें धन, धान्य, स्त्री, कुटुम्ब आदि किसी भी प्रकार की वस्तु में मूर्च्छा नहीं है, क्योंकि वे दर्शनमोह और चारित्रमोह से मुक्त है।

भगवान को रक्षक ठहरावे, वे भगवान का स्वरूप नहीं समझे हैं। और जो भगवान का स्वरूप नहीं समझे, उन्होंने आत्मा का स्वरूप भी नहीं जाना। वास्तव में

कोई भगवान की प्रार्थना नहीं करता और भगवान किसी की प्रार्थना नहीं सुनते। भगवान को तो पहले से ही ज्ञान था तथा प्रार्थना करनेवाले अपने गुण को पहिचानकर गुण की प्रार्थना भगवान को सम्बोधकर करते हैं; परन्तु अन्दर भान है कि भगवान का अवलम्बन मेरे अशुभभाव टालने के लिये है। भगवान मुझे कुछ दे नहीं देते। मूर्ति तो जड़ है, उसमें भगवान बैठे नहीं हैं। जिसे पर से निराला आत्मा के वीतरागस्वरूप की पहिचान है, परन्तु अभी वैसी पूर्ण दशा प्रगट नहीं हुई है, इसलिए अपूर्ण दशा में अशुभराग टालने को शुभराग का अवलम्बन आता है और उस शुभराग में भगवान को निमित्तरूप से आरोप करते हैं, परन्तु भगवान की भक्ति से आत्मा को धर्म होता है, ऐसा नहीं होता। मात्र अशुभ से बचने को शुभराग के निमित्तरूप से भगवान को लेता है।

भगवान की मूर्ति या मन्दिर के साथ मेरे धर्म का सम्बन्ध नहीं है। मेरा धर्म आत्मा के साथ है, इस प्रकार स्वभाव की ओर के ज्ञान के लक्ष्य से अशुभ से बचने के लिये शुभ में जुड़े तो अशुभ टालने जितना लाभ मिलता है।

धर्म अर्थात् आत्मा का स्वभाव; वह आत्मा में ही भरा है, परन्तु जब उसमें स्थिर नहीं रह सकते, तब ज्ञानी को बीच में शुभराग और शुभराग के निमित्त प्रतिमा इत्यादि आते हैं, परन्तु प्रतिमा परवस्तु है। वास्तव में प्रतिमा को कोई वन्दन नहीं करता परन्तु अन्दर अपने गुण का बहुमान करके बाह्य में भगवान पर आरोप करके बोलता है।

'धर्म मेरा निर्मल स्वरूप है, आपने जो पूर्ण पवित्रता प्रगट की है, वही मेरा स्वरूप है'। ऐसी पवित्रता का ज्ञान हो और स्मरण करे तो भगवान को निमित्त कहा जाता है, परन्तु निमित्त से स्मरण नहीं करता, स्मरण करे, तब निमित्त कहलाता है। जिसे पवित्र ज्ञातास्वरूप की पहिचान है और पूर्ण दशा प्रगटी नहीं है, उसे पवित्रता के स्मरण में निमित्त कहलाते हैं, परन्तु यदि पवित्र स्वभाव का भान न हो तो पवित्रता का निमित्त भी नहीं कहलाते। शुद्धस्वभाव की प्रतीतिसहित का ज्ञान हो, तब याद करे तो शुभराग का निमित्त कहलाता है, इतना प्रतिमा का अवकाश है। कोई समझे बिना मूर्ति को उड़ावे तो वह अज्ञानी है, और कोई मूर्ति से ही धर्म मान बैठे तो वह भी अज्ञानी है।

स्वभावदृष्टि से भगवान के आत्मा में और मुझमें अन्तर नहीं है; परन्तु अवस्थादृष्टि से अभी मेरी अपूर्णता है, इस प्रकार प्रथम स्वभाव दृष्टि जानने के पश्चात् स्मरण करे तो पवित्रता का निमित्त कहलाता है।

'भगवान का स्मरण करें तो संकट टाल देंगे' ऐसा माने, वह अज्ञानी है, उसे तो शुभ का निमित्त भी वह नहीं कहलाता। अशुभ से बचने के लिये स्वयं शुभ में झुकाव रखता है और बाहर के संकट का संयोग सहज टल जाता है, तब निमित्त से ऐसा बोला जाता है कि भगवान ने संकट टाला। सत्य भान के पश्चात् राग नहीं टले, तब तक राग की दिशा पलटे; वीतराग न हो, तब तक प्रशस्त राग में सच्चे देव-गुरु का निमित्त आवे। जिस प्रकार की भूमिका हो, वहाँ वैसे ही निमित्त होते हैं। सम्यग्दर्शन से पहले देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति होती है परन्तु व्रत-तप नहीं होते। सम्यग्दर्शन में व्रत-तप न हो परन्तु निःशंकता इत्यादि आठ आचार तो सम्यक्त्व का सहज स्वभाव है। सम्यग्दर्शन -पहले संसार की प्रीति टालने और आत्मा के ओर की प्रीति होने के लिये देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, बहुमान सहज होता ही है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये व्रत-तप होते हैं न?

उत्तर—सम्यग्दर्शन से पहले सच्चे व्रत-तप नहीं हो सकते। व्रत-तप तो स्वरूप के भान के पश्चात् स्थिरता के पुरुषार्थ में सहज हो जाते हैं। प्रथम मन-वाणी-देह से निराला जो तत्त्व ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, उसकी प्रतीति बिना स्थिरता का पुरुषार्थ आयेगा कहाँ से? वीतराग होने से पहले शुभराग में प्रतिमा आदि निमित्त होते अवश्य हैं, परन्तु वे आत्मा को लाभ नहीं कर सकते। साक्षात् तीर्थंकरदेव भी मुझे लाभ कर सकते हैं, ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है।

अन्दर में स्थिरता कब होती है? कि जब दृष्टि का विषय लक्ष्य में आया तब; वस्तु स्वयं ही स्थिरता स्वरूप है, इसलिए दृष्टि का विषय लक्ष्य में आने के बाद स्थिरता का प्रश्न ही नहीं उठता। संयोग या उपाधिरहित मेरा स्वरूप है, ऐसे निश्चयरूप स्थिरता का कारण प्रगट हुआ, उसे स्थिरतारूप कार्य प्रगट होने की शंका नहीं होती।

आत्मा पर से निराला है; देव, गुरु, शास्त्र भी पर है, पर के अवलम्बन से आत्मा

को गुण तीन काल-तीन लोक में किसी को उघड़ा नहीं, उघड़ता नहीं और उघड़ेगा नहीं, तथापि प्रथम भूमिका में देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आये बिना नहीं रहती। व्रत-तप सम्यग्दर्शन बिना नहीं होते। जिस भूमिका में जो न हो वहाँ उसका स्थापन करे, उसे तो व्यवहार श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। जैसे सूर्य का सहज स्वभाव किरण प्रगट होने का है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का सहज स्वभाव आठ आचार है।

जिस भूमिका में जो हो, उसे समझे बिना आगे बढ़ना चाहे तो ज्ञान खोटा है और जो पूर्ण स्वरूप को पहिचानकर उसकी भावना न करे तो श्रद्धा खोटी है। श्रद्धा में तो पूर्ण की ही भावना होती है, परन्तु अवस्था का ज्ञान नहीं भूलना चाहिए। अपूर्णदशा में राग होता अवश्य है, परन्तु वह राग धर्म का कारण नहीं है। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भी राग है - धर्म नहीं। हठ करके धर्म में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। आत्मा का भान हो, सहज स्वभाव की दृष्टि हो और वीतरागता की ही भावना हो, तथापि भूमिका प्रमाण राग होता है परन्तु दृष्टि में उसका आदर नहीं है।

प्रश्न—भगवान की भक्ति करे तो भगवान सुख दे न?

उत्तर:—कोई किसी को सुखी या दु:खी कर ही नहीं सकता। भगवान ने तो सबकी स्वतन्त्रता का ढिंढ़ोरा पीटा है कि 'तू स्वतन्त्र और सुख की मूर्ति है, जैसा मैं हूँ, वैसा ही तू है, परमार्थ से तुझमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है; तेरा विश्वास किये बिना बाहर भटकने से कुछ मिले, ऐसा नहीं है।' इस प्रकार भगवान सुख के मार्गदर्शक हैं, परन्तु भगवान किसी को सुख दे नहीं देते।

(यहाँ तक उपोद्घातरूप से कहा गया। अठारह दोष की व्याख्या चलती है, उसमें क्षुधा, तृषा और भय, ये तीन दोष कहे गये हैं।)

(४) क्रोध—कषाय के उदय में जुड़ने से तीव्र परिणाम होना, वह क्रोध है। क्षमा के धारक भगवान को क्रोध नहीं होता; क्योंकि अपनी पूर्व अवस्था में (नौवें गुणस्थान में) क्रोध कषाय का ही नाश किया है।

प्रश्न - बारहवें गुणस्थान में तो क्रोध होता है न? क्योंकि वहाँ परघात कर्म का उदय है।

उत्तर - नहीं होता, क्योंकि वहाँ मोह नहीं है; इसलिए परघात कर्म तो प्रकृति में जाता है।

(५) राग—राग दो प्रकार का है। १—शुभराग अथवा प्रशस्त राग, और २—अशुभराग अथवा अप्रशस्त राग। दान का भाव, शील का भाव, उपवास का भाव और गुरुजनों की सेवा का भाव, इन चार प्रकार में प्रवर्तनेवाला आत्मा का उपयोग, वह शुभराग है। उससे पुण्य बँधता है, शरीर की क्रिया से पुण्य या पाप नहीं है। वीतराग होने से पहले शुभराग हुए बिना नहीं रहेगा, परन्तु उस शुभराग से आत्मा का धर्म नहीं है। समकिती को प्रशस्त राग होता अवश्य है परन्तु उसमें वे धर्म नहीं मानते। तथा स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा इन चार प्रकार की विकथाओं में आनन्द मानना, वह अशुभराग है। वह दोनों प्रकार का राग भगवान को नहीं होता।

प्रश्न—'दूसरे धर्म प्राप्त करें तो अच्छा', ऐसे शुभराग से भगवान की वाणी छूटती है न?

उत्तर—जो भगवान हो, उसे राग नहीं होता और जिसे राग हो, वह भगवान नहीं है। भगवान की वाणी तो पूर्व के कारण से सहज छूटती है; भगवान को उपदेश देने की इच्छा नहीं होती।

किसी के लाभ से तुझे लाभ नहीं और किसी के नुकसान से तुझे नुकसान नहीं। 'मुम्बई की होनारत' वह अकस्मात् नहीं है। सर्वज्ञ के न्याय से सब नियमबद्ध ही होता है। अकस्मात् अर्थात् नहीं बनने का; और ऐसा कभी होता ही नहीं। जो बनने का है उसमें लाख इन्द्र उतरे तो भी कुछ फेरफार नहीं कर सकते। सब व्यवस्थित ही हो रहा है। जो होनेवाला है, उसमें दूसरी कल्पना क्या काम आवे? तुझे वस्तुस्वभाव की खबर न हो, इससे कहीं वस्तु का स्वभाव बदल जायेगा?

प्रश्न—केवली को आहार नहीं, इसलिए उपवास है न?

उत्तर—वीतरागस्वभावी को आहार की वृत्ति, इससे उपवास अर्थात् कि 'आहार की वृत्ति छोड़ने का विकल्प' वह भी नहीं है। भगवान को शुभ या अशुभ कोई राग नहीं है।

(६) **मोह**—चार प्रकार के संघ पर वात्सल्यभाव होना, वह मोह है; सन्तों-मुनियों या गणधर के प्रति प्रेम, वह मोह है। भगवान को मोह नहीं है। 'यह मेरा भक्त है, इसके प्रति प्रेम करूँ'—ऐसा भाव भगवान को नहीं है। अपूर्ण दशा में ज्ञानी को मुनि-धर्मात्मा के प्रति वात्सल्यभाव होता अवश्य है, परन्तु अन्दर स्वयं समझते हैं कि यह राग मेरा स्वरूप नहीं है।

भगवान को गणधर के ऊपर भी राग नहीं होता। 'महावीरस्वामी ने गौतमगणधर के प्रति राग के कारण निर्वाण के समय उनको युक्ति से दूर किया' यह बात खोटी है, क्योंकि भगवान को राग हो ही नहीं सकता तथा गौतमस्वामी तो चार ज्ञान के धनी थे, वे तो सब (महावीरस्वामी निर्वाण प्राप्त करनेवाले हैं ऐसा) जानते ही थे। गौतम जैसे भक्त या अथाग निन्दा करनेवाले अज्ञानी, दोनों में से एक के ऊपर भी भगवान को राग या द्वेष नहीं है; भगवान तो वीतराग हैं। उनके बदले भगवान को भी रागवाला माने तो जहाँ अरिहन्त या सिद्ध के स्वरूप की भी खबर न हो, वहाँ धर्म का स्वरूप तो कहाँ से पहिचाने?

(७) **चिन्ता**—शुभ या अशुभ विचार करना, वह चिन्ता है। आत्मा में गुण-गुणी के भेद की विचारणा, वह भी शुभ विचार है, 'मैं सिद्धस्वरूप हूँ' या 'मैं पूर्ण होऊँ' ऐसा विचार भी शुभराग है—चिन्ता है, वह भगवान को नहीं है। भगवान शुभ-अशुभ दोनों विचार टालकर पूर्णानन्दस्वरूप का अनुभव कर रहे हैं; शुभ-अशुभ दोनों टाले बिना केवलज्ञान नहीं होता।

भगवान को शुक्लध्यान कहलाता है, वह उपचार से है। केवलज्ञान के पश्चात् शरीररहित दशा, वह सिद्धदशा और केवलज्ञानी देहसहित विराजें, वह अरिहन्त कहलाते हैं। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धरस्वामी इत्यादि बीस तीर्थंकर वीतरागपद में सदेह विराज रहे हैं। उन्हें अरिहन्तदेव कहा जाता है, चार घातिकर्म के नाश से उन्हें केवलज्ञान इत्यादि स्वचतुष्टय प्रगट है, अभी चार अघातिकर्म बाकी है, जिससे शरीर का हिलना-चलना तथा दिव्यध्वनि का छूटना सहज (इच्छारहितपने) होता है।

(८) **जरा**—मनुष्य तथा तिर्यंच के औदारिकशरीर में आयुकर्म के घट जाने के

निमित्त से जरा आती है। अनन्त बल के धारण करनेवाले और करोड़ों सूर्य से भी अधिक प्रभावाले ऐसे वीतराग के शरीर में जरा का तो स्वप्न में भी प्रवेश नहीं है, भगवान को स्वप्न होता नहीं। भगवान का शरीर करोड़ों वर्ष रहे, तो भी उसमें वृद्धावस्था नहीं आती तथा नख और केश नहीं बढ़ते। महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान अरबों वर्ष हुए, अरिहन्तपद में हैं और अभी अरबों वर्ष रहेंगे, तथापि उन्हें शरीर में जरा नहीं है।

यहाँ शरीर का वर्णन करके पुण्य की रुचि नहीं करानी है, परन्तु केवली की पहिचान के लिये शरीर का वर्णन किया जाता है। पुण्यवन्त जीव ही भगवान के दर्शन करने जाते हैं; भगवान की सभा में अकेले मनुष्य ही जाते हैं, ऐसा नहीं, परन्तु सिंह, बाघ, पशु, सर्प इत्यादि भी भगवान के दर्शन करने आते हैं और भगवान का उपदेश सुनकर कोई वहीं आत्मज्ञान करके एकावतारी हो जाते हैं। यह सब अरिहन्त का स्वरूप समझने के लिये कहा जाता है, यह निर्णय किये बिना धर्म नहीं होगा।

पवित्रता की दशा में 'भगवान को पुण्य' बढ़ गया है और पुण्य के कारण शरीर के परमाणु बदल गये हैं। पवित्रता में भी पूरे और पुण्य में भी पूरे। (यहाँ 'भगवान के पुण्य' ऐसा निमित्त से कहा है, वास्तव में भगवान को पुण्य का स्वामित्व नहीं है)।

(९) रोग—शरीर में पीड़ा उत्पन्न होना, उसका नाम रोग है। परम औदारिक महासुन्दर, निश्चल और शान्त ध्यान आकार ऐसे भगवान के शरीर में किसी प्रकार का रोग नहीं है। रोग, वह पाप का उदय है। भगवान को शरीर में रोग आवे, इतनी असाता नहीं है। मीठे जल से भरपूर समुद्र में नमक की छोटी डली डालने से उस समुद्र के पानी में कितना खारापन आयेगा? उसी प्रकार अरिहन्तदेव को केवलज्ञान से पहले शुभविकल्प से साता के पट बढ़ गये हैं और उस साता के अनन्तवें भाग असाता है, उसके निमित्त से रजकण शरीर में आते हैं, उसे ज्ञानी ही जान सकते हैं। उस असाता के निमित्त से रजकण शरीर में आते हैं – आत्मा में नहीं आते। भगवान का स्वरूप तो अपार माहात्म्यवाला है, परन्तु अभी तो बहुत उसे साधारण मनुष्य जैसा मान रहे हैं। जहाँ सच्चे देव के स्वरूप की पहिचान नहीं, वहाँ आत्मा की या धर्म की पहिचान भी नहीं हो सकती।

(१०) **मरण**—आदि-अन्त सहित, मूर्तिक, इन्द्रियों के चिह्नवाला, आत्मा के स्वभाव से विपरीत स्वभाववाला, मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देवगति सम्बन्धी विभाव व्यंजनपर्याय अथवा औदारिक, वैक्रियकशरीर से आत्मा का भिन्न पड़ जाना अर्थात् कि कार्मणशरीर आत्मा के साथ रहे, वह मरण है।

संसारियों को एक शरीर से छूटकर दूसरे शरीर में जन्म धारण करना पड़ता है, अर्थात् उनका मरण, जन्मसहित है। भगवान को दूसरी देह की प्राप्ति नहीं है, इसलिए मरण नहीं है।

(११) **स्वेद (पसीना)**—अशुभकर्म के उदय से शरीर में पसीना होता है; भगवान तो स्वरूपानन्दी स्वभाव में स्थिर हुए हैं, उनके परमशुद्ध शरीर को पसीना नहीं होता।

(१२) **खेद**—अप्रिय वस्तु के संयोग से रंज होना, वह खेद है। भगवान को खेद नहीं है; भगवान को कोई अप्रिय का संयोग ही नहीं है, क्योंकि वे परिग्रह और मूर्च्छारहित।

(१३) **मद**—उत्तम कुल, अतुल बल इत्यादि होने में आत्मा के भाव में अहंकार होना, वह मद है। मद तो रागी हो होता है। भगवान वीतराग हैं, उन्हें मद नहीं है। भगवान को वचन की मधुरता है, उसका मद नहीं है, मनोज्ञ (मन को रुचिकर, ऐसा) सुन्दर शरीर है, उसका अभिमान नहीं है, जाति का अभिमान नहीं है, शरीर का अतुल बल है और आत्मा का अनन्त बल (वीर्य) है, उसका अभिमान नहीं है, उत्तम कुल का अभिमान नहीं है, सर्वोत्कृष्ट पुण्य की प्रकृति का मद नहीं है। भगवान तो क्षायिक समकितधारी हैं। और अपने निर्मल निर्मानस्वभाव में ढल गये हैं। वहाँ पर का अभिमान नहीं है।

(१४) **रति**—भगवान को परवस्तु में प्रियता नहीं है (द्वेष भी नहीं है)। अपना स्वरूप ही प्रिय में प्रिय है, स्वरूप के आनन्द के अनुभव में ही लीनता है, वहाँ पर में कहीं प्रीति नहीं है।

(१५) **आश्चर्य**—भगवान को आश्चर्य नहीं है क्योंकि आश्चर्य तो न देखा हो

अथवा न जाना हो, ऐसा बने उसमें होता है, परन्तु भगवान के ज्ञान में न ज्ञात हुआ हो, ऐसा कोई द्रव्य, कोई गुण या कोई पर्याय नहीं है, वहाँ भगवान को आश्चर्य किसका?

(१६) निद्रा—निद्रा, वह दर्शनावरणीय की सर्वघाति प्रकृति है, भगवान को दर्शनावरणकर्म नहीं है, इसलिए निद्रा नहीं है।

(१७) जन्म—पुण्य-पाप के कारण देव-मनुष्य इत्यादि चार गति में देह धारण करना, वह जन्म है। भगवान को चार गति के भ्रमण के कारणरूप चार घातिकर्म का नाश होने से जन्म नहीं है।

(१८) आकुलता—भगवान को आकुलता नहीं है। भगवान तो स्वरूप में ही लीन वर्तते हैं, एक समय भी पर को भजते ही नहीं।

इस प्रकार अरिहन्त भगवान का स्वरूप अठारह महादोषों से रहित है।

समस्त संसार के प्राणी, इन्द्र से (लेकर) वह नारकी आदि सब अठारह दोषों से व्याप्त हैं। देव-देवी सब अठारह दोषसहित हैं। भगवान ही अठारह दोष से रहित हैं। उनकी पहिचान, वही आत्मा की पहिचान का कारण है। इसके अतिरिक्त कुलदेवी या शासनदेवी इत्यादि जन्म-मरणसहित है। उनकी मान्यता-पूजा इत्यादि करते हैं, उन्हें संसार की रुचि है। यदि वीतरागता की रुचि हो तो साक्षात् भगवान को ही क्यों नहीं भजते? देव-देवी भी भगवान को पूजते हैं; भगवान का स्वरूप जाने बिना आत्मा का स्वरूप ज्ञात नहीं होता।

★★★★★

व्याख्यान नं. ६, अक्षय तृतीय, दिनांक २५-४-१९४४, मंगलवार

गाथा छठी चालू—(नियमसार, पृष्ठ १३)

अरिहन्तदेव का स्वरूप कैसा होता है, उसका वर्णन चलता है। अरिहन्त भगवान अठारह महादोषों से रहित होते हैं, यह कहा गया। अरिहन्त वीतराग हैं, केवलज्ञानस्वरूप हैं, उन्हें पहिचाने बिना आत्मा की खबर नहीं पड़ती और आत्मा की खबर पड़े बिना धर्म नहीं होता।

अरिहन्तदेव का स्वरूप कहते हुए श्री विद्यानन्दस्वामी कहते हैं कि -

सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दस-अट्ठ-दोस-रहिओ सो देवो णत्थि सन्देहो।।

'**धर्म वहाँ है, जहाँ दया है**'—जहाँ दया है, वह धर्म है।

दया की व्याख्या—आत्मा के रागादिरहित स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और उसका शरण, वही आत्मा की दया है। अपने आत्मा को पुण्य-पाप के भाव में जाने से रोकना, वही स्व-दया है, उसमें पर-दया समाहित हो जाती है। धर्म अपना स्वभाव है; स्वभाव में रागादि नहीं होने देना, ऐसा आत्मा का भाव, वह दया है। और उसमें दूसरे को असुविधा देने का भाव नहीं, वह पर-दया आ जाती है।

तप किसे कहना?—कि **तप वही है, जहाँ विषयों का निग्रह है**—पाँच इन्द्रिय के विषयों की ओर से इच्छा को रोक देना, वह तप है। अथवा स्वलक्ष्य करने से परविषय की इच्छा रुक जाना, वह तप है। स्व अर्थात् आत्मा, उसकी अन्दर दृष्टि होने से सहज स्वभाव के लक्ष्य से परलक्ष्य छूट जाता है।

जो अठारह दोषरहित हो, वही देव है। जो जन्म-मरणसहित हो या जिसे राग-द्वेष-भय इत्यादि हो, वह देव नहीं कहलाता। भगवान अठारह दोषरहित ही हैं, उसमें शंका नहीं करना।

विद्यानन्दी आचार्य निर्ग्रन्थ मुनि थे, वे कहते हैं कि—

(मालिनी)

अभिमत-फल-सिद्धे-रभ्युपायः सुबोधः,
स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैः,
न हि कृत-मुपकारं साधवो विस्मरन्ति।।

'आत्मा का प्रिय अन्तर स्वभाव, उसकी सिद्धि का (प्रगट करने का) उपाय आत्मज्ञान ही है।' स्वयं कौन है, यह जाने बिना उसमें स्थिर नहीं होता। और स्थिर हुए बिना वीतरागता नहीं होती, वीतरागता के बिना केवलज्ञान नहीं होता और केवलज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।

आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है, उस सुख का उपाय आत्मज्ञान है। आत्मा की रुचि बिना पर की रुचि हटती नहीं। आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्र दशा का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र ही है; आत्मज्ञान सुशास्त्र से होता है। वीतराग के अतिरिक्त दूसरे के कथन से आत्मभान नहीं होता, क्योंकि जिसने वस्तु सम्पूर्णरूप से जानी नहीं, उसके कथन में सम्पूर्ण सत्य नहीं आता। सत्य शास्त्र की उत्पत्ति आप्त के मुख से होती है।

आत्मा की मुक्ति, आत्मज्ञान से; आत्मज्ञान, सुशास्त्र से और सुशास्त्र की उत्पत्ति, केवली भगवान से होती है; इस कारण से चतुर पुरुषों को—आत्मा का हित करने के इच्छुक पुरुषों को तो केवली भगवान ही पूजने योग्य हैं। जिनके मुखकमल से मुक्ति दे ऐसे शास्त्र निकले हैं, वे भगवान ही चतुर पुरुषों को पूजनेयोग्य हैं, क्योंकि सज्जन पुरुष—आत्मार्थी पुरुष अपने ऊपर किया गया उपकार भूलते नहीं हैं। उपकार अरिहन्तदेव का ही है, इसलिए उनका आदर, वही सज्जन पुरुषों का कर्तव्य है।

स्वयं पूर्ण दशा न प्राप्त करे, तब तक केवली भगवान को उपकारी गिनकर पूजनेयोग्य है। वीतरागदेव यदि आत्मा का मार्ग न बतावे तो जगत के प्राणियों का कल्याण कैसे होगा? आत्मा के भान बिना संसार में भटककर दुःख ही भोगा करेगा; इसलिए सर्वज्ञ भगवान निर्दोष और परम हितोपदेशक है, इसलिए वे पूजनेयोग्य हैं। (यहाँ सर्वज्ञ भगवान परम हितोपदेशी और पूजनेयोग्य है, यह बताने के लिये कथन है।)

अरिहन्त भगवान तो स्वरूप के आनन्द के अनुभव में एक तार है, वे त्रिकाल के जाननेवाले, परम हितोपदेशक और भव्य जीवों को कल्याणकारी है। इसलिए आत्मा के सुख के अभिलाषियों को अरिहन्त को पहिचानकर उनका निरन्तर ध्यान करना योग्य है।

अब टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं :—

(मालिनी)

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः,
स्मरति-रसुरनाथः प्रास्त-दुष्टाघयूथः।
पदनत-वनमाली भव्य-पद्मान्शुमाली,
दिशतु शमनिशं नो नेमिरानन्दभूमिः।।१३।।

श्री नेमिनाथस्वामी हमें सदा सहायरूप हो।

श्री नेमिनाथस्वामी कैसे हैं? सौ इन्द्रों से पूज्य हैं तथा उनके पास तीन काल-तीन लोक को जाननेवाला अतिशय सम्यग्ज्ञानरूपी स्वराज्य है; (राजा राज्य को जानता ही है, कोई बँगला इत्यादि को साथ ले नहीं जाता। मात्र 'यह मेरा' ऐसी ममतासहित जानता है)। वीतरागदेव को केवलज्ञान द्वारा तीन काल-तीन लोक का ज्ञान वर्तता है, केवली ने ज्ञान किया, परन्तु ममता नहीं की, यही वास्तविक स्वराज्य है। काम पर विजय प्राप्त करनेवाले लोकान्तिक देवों के नाथ (नेमिनाथस्वामी) हैं। वे प्रभु को दीक्षा से पहले कहते हैं कि हे प्रभु! अब जगत के जीवों का उद्धार करने निकलो, ऐसा कहने का आचार है; यहाँ आचार्यदेव ने ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विकल्प के कारण तीर्थंकर में भी ब्रह्मचारी नेमिनाथस्वामी और देवों में भी ब्रह्मचारी लोकान्तिकदेव को लिया है। सर्वार्थसिद्धि के देव, वे सिद्ध के पड़ोसी और लोकान्तिकदेव वे तीर्थंकर के पड़ोसी—दोनों एकावतारी हैं।

जिन्होंने आठ प्रकार के दोष कर्मों के समूह का नाश किया तथा जिनके चरणों की नारायण (श्रीकृष्ण वासुदेव) और बलभद्र (बलदेव) सेवा करते हैं, ऐसे श्री नेमिनाथस्वामी भव्य जीवरूपी कमल को प्रफुल्लित करने में सूर्य समान हैं; भगवान की

वाणी सुनते हुए भव्य जीवों के हृदयरूपी कमल खिल जाते हैं। और जो आनन्द की भूमि है, आनन्द की उत्पत्ति का फलद्रुम है, जहाँ आनन्द... आनन्द ही हो रहा है अर्थात् श्री नेमिनाथस्वामी का आत्मा परम आनन्द में जम गया है, ऐसे नेमिनाथस्वामी हमें सदा सहायभूत हों।

इस प्रकार छठी गाथा में अरिहन्त का स्वरूप कहा।

★★★★★

गाथा-७

आज अक्षय तीज है। आज के दिन भगवान ऋषभदेव का वर्षीतप के अन्तराल में श्रेयांसकुमार के यहाँ विधिपूर्वक पारणा हुआ था। यह विधिपूर्वक आहारदान का महान मांगलिक प्रसंग अठारह कोड़ाकोड़ी वर्ष के अन्तराल में हुआ था। श्रेयांसकुमार को दान के फल में आत्मा का अक्षय अर्थात् नाश न पावे, ऐसा सुख प्रगट हुआ था, इसलिए इस दिन को 'अक्षय तीज' कहा जाता है।

ऋषभदेव भगवान को छह महीने के उपवास थे और तत्पश्चात् छह महीने आहार का विकल्प आने पर योग्य समय में आहार लेने पधारते थे परन्तु दान की विधि कोई जाननेवाले नहीं थे, इसलिए छह महीने तक आहार का प्रसंग नहीं बना। श्रेयांसकुमार को स्वप्न आया, उसमें कल्पवृक्ष सूखता हुआ दिखाई दिया—पश्चात् भगवान के दर्शन होने पर जातिस्मरणज्ञान हुआ और आहार की विधि की खबर पड़ी, इसलिए विधिपूर्वक 'तिष्ठ: तिष्ठ: तिष्ठ:' ऐसा बोलकर आहारदान के लिये विनय से पड़गाहन कर, नवधाभक्ति द्वारा गन्ने के रस का आहारदान किया था। उस काल में भरतक्षेत्र में दान की विधि तब से शुरु हुई। ऋषभदेव भगवान उसी भव से मोक्षगामी हुए और श्रेयांसकुमार भी उसी भव से मोक्षगामी हुए।

प्रश्न—गन्ने के रस का ही दान क्यों दिया? लड्डू या दाल-भात क्यों नहीं दिये?

उत्तर—गन्ने का रस उस समय सहज उपलब्ध था और वह वस्तु निर्दोष थी, इसलिए गन्ने के रस का दान दिया। बारह-बारह महीने तक किसी को विधि की खबर नहीं पड़ी और श्रेयांसकुमार के यहाँ ही मिलान हो गया।

णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा।।७।।

निःशेषदोषरहितः केवलज्ञानादिपरमविभवयुतः।
स परमात्मोच्यते तद्विपरीतो न परमात्मा।।७।।

शरीर में रहे होने पर भी जो सम्पूर्ण दोषों से रहित है और जिन्हें केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य बल प्रगट है, वे परमात्मा हैं। उनसे विपरीत अर्थात् जिसमें ऐसे गुण प्रगट नहीं हुए, वे देव नहीं हैं। देव कैसे हैं ? आत्मा के गुण को रोकने में निमित्तकारण चार घातिकर्मों का नाश किया होने से सर्व दोषरहित है। और पूर्ण है; पूर्ण ज्ञान-दर्शन इत्यादि प्रगट हो गये हैं, परम वीतराग हैं, उन्हें धर्मोपदेश देने की भी इच्छा नहीं या किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं, ऐसे अरिहन्त परमात्मा होते हैं। जिन्हें केवलज्ञान प्रगट होने पर तीन लोक के जीवों को दो घड़ी साता हो जाती है; स्वरूप का परम आनन्द प्रगट हुआ है, यह इत्यादि अनेक अन्तरंग वैभव जिन्हें प्रगट है, वे ही सच्चे देव हैं।

लोग लक्ष्मी-मकान इत्यादि को वैभव मानते हैं, परन्तु वह आत्मा का वैभव नहीं है। आत्मा का वैभव तो आत्मा में होता है। परसन्मुख का झुकाव टलकर अन्तरस्वरूप में स्थिरता होने पर आत्मा का आनन्द प्रगट होता है, वही आत्मा का वैभव है। आत्मा से जो पृथक् हो, वह आत्मा का वैभव नहीं है। आत्मा में न हो, वह आत्मा का वैभव कैसे कहलाये ? पर का ममत्व छूटकर निर्ममत्व होने पर आत्मा का वैभव अरिहन्त को प्रगट हुआ है।

और भगवान को बाहर में आठ प्रातिहार्य हैं—दिव्यध्वनि, देवदुन्दुभि, छत्र, चँवर इत्यादि आठ प्रातिहार्य हैं। भगवान अरिहन्त निर्दोष वैभव और अतिशययुक्त हैं; वे भगवान कार्यपरमात्मा हैं। कार्य अर्थात् आत्मा की पूर्ण दशा प्रगट हुई, वह कार्य है। वह जिन्हें प्रगट है, वे कार्यपरमात्मा हैं।

अब जो कार्य प्रगट हुआ, उसका कारण कौन? कारण आत्मवस्तु है, उसमें तो त्रिकाल आवरण है ही नहीं; वह निरपेक्ष है। कोई कर्म का पर्दा वस्तु को परमार्थ से नहीं है। वर्तमान अवस्था दृष्टि से आवरण दिखता है, वह त्रिकाली वस्तु में नहीं है।

प्रश्न—वस्तुदृष्टि में आवरण नहीं दिखता, ऐसा कहा तो क्या आवरण सर्वथा टल गया है?

उत्तर—वस्तु को आवरण नहीं होता, वर्तमान एक समयमात्र विकारी अवस्था में भावबन्धन है, परन्तु वस्तु तो तीनों काल आवरणरहित है—वस्तु को आवरण नहीं होता। आवरण कहा, वहाँ अवस्था हुई; आत्मा तो अनन्त गुण की शक्ति का पिण्ड है, वस्तु में या गुण में आवरण नहीं है, यदि अवस्था को देखो तो एक समयमात्र का आवरण पर्याय में है। द्रव्य तो शुद्ध ही है; अरिहन्त की पर्याय भी शुद्ध है, इसलिए कार्यपरमात्मा है, उस पूर्ण शुद्धदशारूपी कार्य का कारण आत्मा ही है।

प्रश्न—पर्याय एक समयमात्र की ही क्यों? लम्बी क्यों नहीं?

उत्तर—दो पर्याय कभी इकट्ठी होती ही नहीं। एक पर्याय जाये, तब दूसरी आती है; आत्मा त्रिकाल है, पर्याय में एक समय मात्र की ही मलिनता है। वस्तु और वस्तु के गुण तो त्रिकाल शुद्ध है। अवस्था एक समय की है, उसमें उस हालत के ऊपर का झुकाव एक समयमात्र का ही है; भूत-भविष्य की पर्यायें, वे गुण में गिनी जाती हैं। वर्तमान पर्याय जायेगी तब नयी आयेगी, दो अवस्था एक समय में हो नहीं जाती।

पानी की वर्तमान अवस्था अग्नि के संयोग से उष्ण है, वह उष्णता वर्तमान एक समयमात्र ही है, दूसरे समय की उष्णता, वह पहले समय की उष्णता नहीं है; यदि पानी की उष्ण अवस्था एक समयमात्र की न हो तो दूसरे समय पानी शीतल न हो; उसी प्रकार संसार की मलिनता भी एक ही समयमात्र की है, दूसरे समय में नयी मलिनता करे तो होती है। पहले समय की मलिनता तो दूसरे समय में टल ही जाती है। तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में चार घातिकर्म का नाश होने से केवलज्ञान प्रगट हुआ—वह एक ही समय में प्रगट हुआ है।

एक समयमात्र की अवस्था में अशुद्धतारूपी संसार है, वह वस्तु में नहीं है; वस्तु

कभी अशुद्ध नहीं होती, वस्तु में कोई निमित्त नहीं है, वस्तु त्रिकाल शुद्ध निरावरण है, अवस्था दृष्टि में सब भंग जाल है। अवस्था एक समयमात्र की है। समय-समय करके लम्बा कर रखा है। आत्मा में एक समय की अवस्था जितना संसार है, वह वस्तुदृष्टि होने पर पलटने में देरी नहीं लगती। (संसार और सिद्धदशा ऐसे दो भेद वस्तुदृष्टि में नहीं है)।

जैसे दीपक तो सदा दीपक ही है। पर्दे के समय भी दीपक ही है। पर्दा वर्तमान एक समयमात्र है, वह दीपक को नहीं, यदि दीपक को पर्दा हो तो वह टल नहीं सकता; पर्दा हटा दो तो दीपक तो प्रगट ही है, पर्दे के समय भी प्रगट ही था। उसी प्रकार आत्मा तो सदा शुद्ध ही है। द्रव्य तो सदा पूरी अवस्था से ही भरपूर है। अधूरी अवस्था वह तो पर की अपेक्षा ली जाये तब कही जाती है। अवस्थामात्र आवरण टला, वहाँ पूर्ण प्रगट ही है। यदि वर्तमान पूर्ण न हो तो सिद्धदशा में पूर्णता आवे कहाँ से? वस्तु को आवरण नहीं होता; आवरण हो तो वस्तु ही नहीं कहलाती। आवरण कहते ही अवस्था आती है और अवस्था तो दूसरे समय में बदल जाती है। यदि आत्मा को आवरण हो तो वस्तु का ही अभाव हो जाये, इसलिए वस्तु को आवरण नहीं है, अवस्था में आवरण कहो तो वह अवस्था एक समय की है, वह दूसरे समय पलट जाती है; पर्याय जितनी वस्तु नहीं है। वस्तु तो, जो त्रिकाल एकरूप निरावरण निरपेक्ष रहती है, वह है। मलिन या निर्मल पर्याय एक समय की है। यदि मलिन पर्याय शाश्वत हो तो टले कैसे? मलिनता तो एक समय की पर्याय जितनी है और वस्तु तो त्रिकाल निरावरण है। यदि संसारपर्याय एक समय जितनी न हो तो वह टलकर दूसरे समय में मोक्ष नहीं होगा। मोक्ष की निर्मल अवस्था भी एक समय जितनी ही है। सिद्धदशा में भी दो अवस्था इकट्ठी नहीं होती। निर्मल या मलिन अवस्था में तो पर की अपेक्षा आती है, और द्रव्य तो त्रिकाल एकरूप अपेक्षारहित है। वस्तु में मलिन या निर्मल पर्याय के भेद लागू नहीं पड़ते।

पर्याय अभूतार्थ है—क्षणिक है, वह आश्रय करनेयोग्य नहीं है, त्रिकाल आवरणरहित सम्पूर्ण वस्तु, वही भूतार्थ है, वही आश्रय करनेयोग्य है। आहा! वस्तु, वह वस्तु! स्व से ही वस्तु तो परिपूर्ण है, वस्तु को पर की अपेक्षा ही नहीं लग सकती।

अपेक्षा पर्याय को लागू पड़ती है। वस्तु तो निरपेक्ष है, वह वस्तु ही कारणपरमात्मा है, उस वस्तु पर लक्ष्य देने से परमात्मपद प्रगट होता है, वह कार्य है, वस्तु ही उसका कारण है; इसलिए यहाँ वस्तु का वर्णन लिया है। भगवान अरिहन्त को पूर्ण दशा प्रगट है, इसलिए वे कारणपरमात्मा हैं। अन्दर कारण तो त्रिकाल है, गुण और वस्तु कायम एकरूप रहती है, उसे निमित्त संयोग या आवरण नहीं हो सकते।

वस्तु को त्रिकाल रहने से काल का लम्बाण नहीं बतलाना है परन्तु एकरूप निरावरण है, ऐसी वस्तु की परिपूर्णता का माहात्म्य बतलाना है।

शंका—वस्तु को त्रिकाल निरावरण कहा और त्रिकाल में वर्तमान काल भी उसमें आ गया, तो वर्तमान में भी बन्धन का निषेध किया न?—ऐसा प्रश्न किसी को हो, उसका समाधान—

समाधान—यहाँ वस्तु ही लक्ष्य है। वस्तु का लक्ष्य अवस्था द्वारा होता है। जिस अवस्था से लक्ष्य किया, उस अवस्था का लक्ष्य नहीं परन्तु द्रव्य का लक्ष्य है; दृष्टि के विषय में पर्याय का लक्ष्य ही नहीं। वस्तु त्रिकाल है; जहाँ अवस्था वस्तु की ओर ढली अर्थात् अवस्था द्वारा वस्तु का लक्ष्य दिया कि 'मैं शुद्ध त्रिकाल एकरूप निरपेक्ष द्रव्य हूँ' ऐसा पर्याय द्वारा निश्चित किया—वहाँ पर्याय की दृष्टि ही नहीं रही। वस्तु को लक्ष्य में लेनेवाली जो पर्याय है—उस पर्याय का लक्ष्य भी नहीं। यहाँ ध्रुवस्वभाव लिया है; जिस अवस्था से अन्तर में ढला, वह अवस्था तो ध्रुवस्वरूप में मिल गयी—उसमें मलिनता या निर्मलता की अपेक्षा नहीं।

अरिहन्तपद प्रगट हुआ, वह कार्य है, अवस्था है—उस अवस्था का लक्ष्य नहीं, परन्तु अवस्था कहाँ से आयी? अरिहन्तपद प्रगट कहाँ से हुआ? अवस्था जिस वस्तु से प्रगट हुई, वह वस्तु तो नित्य एकरूप है। वस्तु स्वयं से अपूर्ण अशुद्ध, और दुःखरूप नहीं हो सकती। वस्तु तो आनन्दमय शुद्ध ही है, एक स्वरूप है, बन्ध-मोक्ष के भेद उसमें नहीं हैं, वह वस्तु कारण है और उसके लक्ष्य से निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह कार्य है; इसलिए निर्मल पर्याय का कारण तो त्रिकाल एकरूप वस्तु है।

सोना सोनेरूप एकरूप ही है, चाहे जिस अवस्था में सोना तो सोना ही है, परन्तु

यदि आकार की अवस्थादृष्टि से देखो तो वह अनेकरूप भासित होता है; उसी प्रकार आत्मा को यदि त्रिकाली दृष्टि से—वस्तुदृष्टि से—ध्रुवदृष्टि से देखो तो एकरूप ही है, उसमें पर्याय के भेद नहीं; यदि पर की अपेक्षा लो तो हीन, अधूरी और पूरी पर्याय, ऐसे भेद पड़ते हैं।

सुखस्वरूप तो आत्मा स्वयं ही है। पैसा होना, या नहीं होना, वह सुख या दु:ख का कारण नहीं है, परन्तु अज्ञानी जीव पैसे के प्रति ममता के कारण से उसमें सुख और दु:ख की कल्पनामात्र करता है। पैसा मिलने पर (ममता के कारण) हर्ष के झूले में झूलता है और पैसा जाने पर (ममता के कारण से) रोता है, परन्तु रोना किसके लिये? और टलना किसका? पैसा तो परवस्तु है, वह सुख-दु:ख का कारण नहीं है।

यह समझने से पूर्ण स्वरूप की रुचि हो, पर की महिमा टले और स्वरूप की महिमा आवे, उसका नाम धर्म!

इस प्रकार अक्षय तृतीया का अक्षय ज्ञान बतलाया।

★★★★★

व्याख्यान नं. ७, दिनांक २६-४-१९४४

गाथा सातवीं चालू।

अरिहन्त को कार्यपरमात्मा कहा, कार्यपरमात्मा की व्याख्या चलती है। जो त्रिकाल सम्पूर्ण आवरणरहित है, वह वस्तु है; निर्मल अवस्था तो कार्य है, वह निर्मलदशा आयी कहाँ से? आत्मा त्रिकाल निरपेक्ष वस्तु है। अवस्था का आवरण या अवस्था का उघड़ना, इन दोनों में कर्म की अपेक्षा आती है। निर्मल अवस्था में भी कर्म के अभाव की अपेक्षा आती है। आत्मा निमित्त या पर की अपेक्षारहित त्रिकाल एकरूप आवरणरहित स्वरूप है, वह कारण है और उसमें दृष्टि और एकाग्रता होने से परमात्मदशा प्रगट होती है, वह कार्य है।

प्रश्न—आत्मा को त्रिकाल निरावरण कहा, वह किस प्रकार? वर्तमान अवस्था में तो आवरण है?

उत्तर—यहाँ तो आत्मद्रव्य जो त्रिकाल एकरूप है, उस 'कारणपरमात्मा' की बात है, अवस्था की बात नहीं। अवस्था का आवरण वस्तु में नहीं है। अवस्था साथ में लो तो 'कारणपरमात्मा' नहीं कहा जा सकता। बन्ध-मोक्ष की अवस्था की अपेक्षा बिना जो त्रिकाल एकरूप निरावरण वस्तु है, वह कारणपरमात्मा है।

यदि वस्तु स्वयं आवरणवाली हो तो वस्तु का अभाव हो जाये। आवरण पर्याय में होता है; वस्तु तीनों काल आवरणरहित नित्य है; संसार, मोक्षमार्ग और मोक्ष की अवस्था अनित्य है, एक समयमात्र की है; उस रहित एकरूप नित्य वस्तु है, उसमें कोई अपेक्षा ही नहीं है; ऐसा निज कारणपरमात्मा, जिसमें से केवलज्ञानरूप कार्य प्रगट हो, वह वस्तु, उसकी भावना से—एकाग्रता से केवलज्ञानरूप कार्य प्रगट हुआ। 'भावना' शब्द में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं।

पानी अग्नि से गर्म हुआ है, उस समय ही उसके अन्दर शीतलता रही हुई है, यदि उस समय शीतलता न हो तो दूसरे समय आयेगी कहाँ से? उष्ण पर्याय तो अपेक्षित है; पानी द्रव्य से शीतल, गुण से शीतल और वर्तमान भी शीतल है। वर्तमानरूप से भी पानी में शीतलता रही हुई है; उसी प्रकार अनादि-अनन्त एकरूप निरावरण आनन्दकन्द

आत्मवस्तु को कोई अपेक्षा नहीं है, वर्तमान भी एकरूप अनन्त शक्ति का पिण्ड शुद्ध है, ऐसे स्वभाव की भावना से-उसकी श्रद्धा-ज्ञान और अन्तर रमणता से परमात्मदशा - केवलज्ञानदशा प्रगट प्रगट हुई है, ऐसे अरिहन्त परमात्मा ही सच्चे देव हैं, इसके अतिरिक्त दूसरे कोई सच्चे देव नहीं हैं। केवलदशा 'भावना से उत्पन्न हुई है' ऐसा कहा है, परन्तु 'अनादि से उघड़ी हुई ही थी' ऐसा नहीं कहा क्योंकि यहाँ कार्यपरमात्मा की बात लेनी है। कारण त्रिकाल होता है, कार्य नया प्रगट होता है।

जिसे अरिहन्त के गुणों का ख्याल हो, उसे ही अरिहन्त के स्वरूप की खबर है। इन गुणों से उल्टे गुण के धारक देव नहीं, परन्तु देवाभास है, वे सभी देवपने के मिथ्या अभिमान से सुलग रहे हैं, स्वभाव के अज्ञात होने से कार्यपरमात्मारूप से प्रगट हुए नहीं, उल्टी उस पर्याय को ढाँक दिया है—नाश किया है।

आत्मा, आनन्द का स्वभाव अर्थात् गुण और वीतराग अवस्था (निरपेक्ष पर्याय) है, वह शक्ति तो त्रिकाल है, वह कारणपरमात्मा है और उसकी भावना से प्रगट परमात्मदशा प्रगट होती है, वह कार्य है।

अरिहन्त को परमात्मदशा कैसे प्रगट हुई, वह बतलाया जाता है। कारणपरमात्मा जो द्रव्य, वह त्रिकाल है। उसमें से ही कार्य प्रगट हुआ है। अवस्था प्रगट हुई, वह कार्य है और उसका कारण त्रिकाल एकरूप है, यह बतलाना है।

कार्य ऐसा बताया कि—जिसे निमित्त में-बाहर में आठ प्रातिहार्य हैं और उपादान में स्वरूप के अनन्त आनन्द का अनुभव है। ऐसे अरिहन्त, वे कार्यपरमात्मा हैं। कारण तो सब जीवों को (निगोदसहित) त्रिकाल एकरूप है, कारण में तो सभी जीव समान हैं, जिन्हें कार्य प्रगट हुआ है, वे कार्यपरमात्मा अरिहन्तदेव हैं।

जिसे कारण का भान हुआ और कार्य प्रगट हुआ, वह कार्यपरमात्मा है, शक्ति से तो अभव्य भी कारणपरमात्मा है, यहाँ तो 'कार्य जिसे प्रगट हुआ है ऐसे' ऐसा कहकर कार्य-कारण की सन्धि की है।

जिसे स्वभाव की दृढ़ता हुई, उसे कार्य प्रगट हुआ और जिसे पर का अभिमान हुआ, उसे कार्य-अवस्था जल गयी है, वह अरिहन्त नहीं कहलाता। जिसे कार्य प्रगट

हुआ, वह अरिहन्त है। अरिहन्त किसी को सुख-दु:ख दे नहीं सकते। वे तो सत्य मार्ग बतलाते हैं, उसे जो समझे, उसे लाभ होता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने प्रवचनसार में कहा है कि —

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो।। (अध्याय-१)

जिनके आत्मा का तेज, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त ऐश्वर्य अर्थात् बल प्रगट हुआ है तथा तीन लोक में उनके समान उच्च पुरुष नहीं है, ऐसी जिनकी महिमा है, वे अरिहन्तदेव हैं।

अब अरिहन्त का शरीर कैसा है, वह श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये,
धामोद्दाम-महस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं,
वन्द्यास्तेऽष्ट-सहस्र-लक्षण-धरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।

जिनके शरीर की कान्ति से दशों दिशायें उज्ज्वल बनती है, जिनके अनन्त तेज में चन्द्र-सूर्य का तेज ढँक जाता है, जो अपने रूप से मनुष्य के चित्त को हर लेते हैं, जिनकी दिव्यध्वनि ॐकार सुनने से मानो कि कान में साक्षात् अमृत बरसता हो, ऐसा सुख होता है और जिनका शरीर एक हजार आठ लक्षणों से शोभित है, ऐसे अरिहन्त पूजनेयोग्य हैं। इस प्रकार अरिहन्त परमात्मा को पहिचानकर, अपने परम उपकारी जानकर उन्हें ही आप्त माननेयोग्य है और पूजने तथा वन्दनेयोग्य है।

टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं—

(मालिनी)

जगदिद-मजगच्च ज्ञान-नीरेरुहान्त-
र्भ्रमरवदवभाति प्रस्फुटं यस्य नित्यम्।
तमपि किल यजेहं नेमि-तीर्थङ्करेशं,
जलनिधिमपि दोर्भ्यामुत्तराम्यूर्ध्ववीचिम्।।१४।।

जो अरिहन्त के ज्ञानरूपी कमल में कमर समान यह चौदह ब्रह्माण्ड नित्य प्रतिभासित होते हैं—ज्ञात होते हैं। ऐसे श्री नेमिनाथ भगवान को मैं निश्चय से पूजता हूँ। उन प्रभु की प्रसादी से वास्तव में तो अपने भाव की प्रसादी है परन्तु निर्मानता से कहते हैं कि उन प्रभु की प्रसादी से' मैं अज्ञान और राग-द्वेष के तीव्र लहरोंवाले संसार समुद्र को मेरी दो भुजाओं से तिर जाने में समर्थ होऊँगा।

'तीव्र लहरोंवाले' ऐसा कहा है, वहाँ अस्थिर दशा है, इसलिए कर्म में जुड़ान है, उसका ज्ञान है और 'मेरी दो भुजाओं से' ऐसा कहकर तिर जाने का सामर्थ्य मेरा है, ऐसा उपादान रख दिया है। कर्म के निमित्त में जुड़ान है, उसका ख्याल है, परन्तु मेरी दो भुजाओं—सम्यग्दर्शन और स्वरूप स्थिरता से मैं तिर जाऊँगा, ऐसा पुरुषार्थ का जोर बताया है।

★★★★★

गाथा-८

जिसके तीन काल-तीन लोक में अन्तर न पड़े तथा पूर्वापर विरोधरहित हो, ऐसे शास्त्र किसे कहना? यह अब कहते हैं।

तस्स मुहुग्गद-वयणं पुव्वावर-दोस-विरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।८।।

तस्य मुखोद्गत-वचनं पूर्वापर-दोष-विरहितं शुद्धम्।
आगममिति परिकथितं तेन तु कथिता भवन्ति तत्त्वार्थाः।।८।।

सामान्य अर्थ—ऊपर कहा वैसे अरिहन्त के मुख से निकले हुए वचन आगे-पीछे के दोषरहित और शुद्ध है, उसे शास्त्र कहा जाता है; उन शास्त्रों में नव—अर्थों का वर्णन होता है।

निश्चय से अरिहन्त के मुख द्वारा ही परमागम प्रगट हुए हैं, वे परमागम कैसे हैं, यह निर्णय करना चाहिए। रुपये पचास हजार ब्याज से दिये हों तो बराबर निर्णय करता

है कि जिसके यहाँ रुपये रखता हूँ, वह विश्वास करनेयोग्य है या नहीं ? ब्याज के लोभ से पूँजी जाये, ऐसा तो नहीं है न ? वहाँ ऐसा निर्णय करता है, उसी प्रकार अरिहन्त कथित शास्त्र किसे कहना कि जिस शास्त्र से आत्मा का हित हो, यह निर्णय करना चाहिए। यहाँ तो आत्मा की अर्पणता करना है—उसमें अन्धश्रद्धा नहीं चलती।

जिन्हें ज्ञानानन्द शुद्धदशा प्रगट हुई है, उनके मुख कमल द्वारा चतुर वाक्य रचना के समूहरूप ऐसी दिव्यध्वनि निकलती है—वह पूर्वापर विरोधरहित है। पहले का कथन बाद के कथन से विरोधरूप नहीं होता। पहले ऐसा कहे कि 'राग-द्वेष, हिंसादि नहीं करना' और फिर कहे कि 'गुनहगार को मारना' तो वह विरोधरूप वचन है; सबके प्रति समभाव चाहिए, वह अहिंसक भाव है। एक बार आत्मा और जड़ को भिन्न कहे और फिर कहे कि आत्मा जड़ का कर सकता है—तो वह वचन विरोधरूप है। आत्मा आत्मारूप से है, तो जड़रूप से वह नहीं है, दोनों वस्तुएँ तीनों काल भिन्न हैं। आत्मा है, वह जड़ नहीं; जड़ है, वह आत्मा नहीं, दोनों तत्त्व भिन्न कहकर फिर एक कहे, ऐसा वचन में विरोधपना अरिहन्त को नहीं होता।

आत्मा और शरीरादि त्रिकाल भिन्न है। आत्मा आत्मारूप से है, वह उस स्वभाव की स्वयं को खबर नहीं, इसलिए अज्ञानी पर में अपनापना मानता है और राग-द्वेष करता है। अपने स्वभाव के भान में उन रागादि का नाश है।

अज्ञानी के कथन में वचनविरोध होता है। एक बार कहता है कि आत्मा और जड़ दोनों वस्तुएँ हैं, फिर कहता है कि 'जड़ वस्तु है ही नहीं' ऐसे बिना कारण (अपेक्षा सिवाय) कहे, वह वचन का विरोध है। पहले वाक्य में स्वयं स्थापित बात को दूसरे वाक्य में कारण बिना उत्थापित करना, यह वचन विरोध है। आत्मा और जड़ वस्तु दोनों हैं और जड़ वस्तु, वह आत्मा में नहीं—जड़रूप से तो वह है ही; यदि जड़ न हो तो आत्मा में विकार कैसे हो ? अकेली वस्तु में परलक्ष्य बिना अपने आप विकार नहीं होता, अकेली वस्तु में विकार हो तो विकार उसका स्वभाव हो जाये। इसलिए विकार का निमित्त परवस्तु है सही, परन्तु परवस्तु विकार कराती नहीं; जैसे अकेली डोरी में सर्प का भ्रम नहीं पड़ता परन्तु ज्ञान में सर्प का लक्ष्य हो तो डोरी में सर्प होने का भ्रम पड़ता है, उसी प्रकार यदि जड़ वस्तु ही न हो तो 'जड़ मेरा' ऐसा भ्रम नहीं पड़ता।

(यहाँ भ्रम का कारण परवस्तु है, ऐसा नहीं कहना परन्तु आत्मा के अतिरिक्त दूसरी वस्तु भी है, ऐसा सिद्ध करना है)।

तीन काल-तीन लोक को जाननेवाला ज्ञान सामर्थ्य तो अन्दर पड़ा ही है, परन्तु राग-द्वेष के कारण अटक गया है, इसलिए पूरा नहीं जान सकता। सर्वज्ञ को वह ज्ञान प्रगट है, इसलिए सब जान सकते हैं। उनके कहे हुए शास्त्र को परमागम कहा जाता है, उस परमागम का स्वरूप चलता है।

परमागम हिंसादि का उपदेश नहीं देता; जो हिंसादि का आदेश दे, वह शास्त्र नहीं कहलाता; पाप क्रिया की पुष्टि के अभाव से जो शुद्ध है, वह शास्त्र है। राग-द्वेष दोनों पापक्रिया है, उनसे अपने आत्मा की हिंसा है। परजीव मरे या न मरे, वह आत्मा के आधीन नहीं है परन्तु मारने या जिलाने का भाव आत्मा कर सकता है। पर को जिलाने का भाव, वह राग है। मारने का भाव, वह द्वेष है। इन दोनों में अपने आत्मा की हिंसा है। जिसके द्वारा आत्मा का गुणघात हो, वह करने की भगवान की आज्ञा होती ही नहीं। कोई भी अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों में राग-द्वेष की आज्ञा परमागम में नहीं होती, क्योंकि रागादि आत्मा के वीतरागस्वभाव की हिंसा करनेवाले हैं।

और परमागम में जीवादि सात तत्त्वों का वर्णन है, वह निम्नानुसार :—

१—**जीव**—अनादि-अनन्त ज्ञानस्वरूपी वस्तु है; जीव अनन्त है।

२—**अजीव**—अनादि-अनन्त जड़वस्तु है। पुद्गल परमाणु अनन्त हैं।

३—**आस्रव**—पुद्गल के लक्ष्य से होनेवाले शुभाशुभभाव, वे भाव आस्रव और जीव के भाव का निमित्त पाकर कर्म का आना, वह द्रव्य आस्रव है। पुण्य-पाप दोनों आस्रव ही है।

४—**बन्ध**—आस्रव के कारण जीव-पुद्गल का एक प्रदेश में इकट्ठे रहना, वह बन्ध।

५—**संवर**—स्वभाव के भान द्वारा जितना आस्रव रुके, वह संवर।

६—**निर्जरा**—संवरपूर्वक पूर्व कर्म का टल जाना, वह निर्जरा।

७—**मोक्ष**—आवरण का सम्पूर्ण टल जाना, वह मोक्ष।

पुण्य-पाप को आस्रव में गिनकर यह सात तत्त्व कहे जाते हैं और पुण्य-पाप दोनों भिन्न गिनने में आवें तो नौ पदार्थ कहे जाते हैं। जिस शास्त्र में सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थ का यथार्थ वर्णन हो, वही शास्त्र है। सब आत्मा मिलकर एक है, ऐसा कितने ही कहते हैं—यह बात मिथ्या है। प्रत्येक आत्मा की जाति एक है, परन्तु संख्या से प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं, अनन्त आत्मायें प्रत्येक भिन्न-भिन्न हैं।

परमागम कैसा है? कि अमृतरूप है। आत्मा के आनन्द को प्रगट करने में निमित्त है। आत्मा अपने में आनन्द है, उसे भूलकर पर में सुख मानता है, यह मूढ़ता है, वह अपने स्वभाव का माहात्म्य भूलकर दूसरे को माहात्म्य देता है। मेरे सुख के लिये जड़ की आवश्यकता पड़े, ऐसी जो अज्ञानदशा, वह आत्मा के स्वाधीन अमृत को लूटनेवाली है और आगम आत्मा के अमृतस्वरूप को बताता है कि—'तेरा आनन्द तुझमें है, पहिचानकर स्थिर हो, यही सुख का उपाय है; दूसरा क्रियाकाण्ड या पुण्य वह कोई उपाय नहीं है। तू चिदानन्दस्वरूप है।' आनन्द है तो आत्मा में ही, कहीं शास्त्र आत्मा का आनन्द देता नहीं है। शास्त्र तो आत्मा के आनन्द को बतलाता है और भव्य जीव कानरूपी अंजुलि से उस अमृत को पीते हैं; यहाँ उपादान पर जवाबदारी डाली है कि योग्य प्राणी भी परमागम को श्रवण करके आत्मा के आनन्द का पान करता है। जो जीव आत्मा के अमृतस्वरूप को समझानेवाले शास्त्र ही न सुने तो वह समझेगा कहाँ से? अमृत रस शास्त्र बताते हैं और कानरूपी अंजुलि से उसे भव्य जीव पीते हैं। सच्ची प्यासवाला एक बूँद भी नीचे नहीं पड़ने देता; उसी प्रकार भव्य जीव जिसे अनन्त जन्म-मरण टालने की सच्ची धगश लगी है, वह शास्त्र के श्रवण में बराबर ध्यान रखता है—एक शब्द भी जाने नहीं देता। अनन्त जन्म-मरण टालने का उपाय आत्मा की पहिचान ही है और वह शास्त्र बताता है। भव्य जीव शास्त्र श्रवण द्वारा पर से निराले आत्मा की पहिचान कर लेता है, ऐसा परमागम है।

और कैसा है परमागम?

मुक्तिरूपी सुन्दरी के मुख का दर्पण है अर्थात् कि आत्मा की पूर्ण मुक्तदशा देखने के लिये शास्त्ररूपी दर्पण है। शास्त्र का यथार्थ ज्ञान करे तो अन्दर अपना मुक्तस्वरूप भासित हो। संसार, वह बन्धन दशा है; उससे रहित पवित्र मुक्तदशा मुक्तपरिणतिरूपी

सुन्दरी का मुख देखने के लिये शास्त्र ही दर्पण समान है, शास्त्र में देखे बिना मुक्तस्वरूप दिखता नहीं।

पूर्ण निर्मल अरिहन्तदशा प्रगट होने के पश्चात् तीर्थंकरप्रभु को 'ॐ' ऐसी दिव्यध्वनि निकली। उन भगवान के कहे हुए परमागम के रहस्य को जानने से अपना परमानन्दस्वरूप प्रगट भासित होता है। इसलिए पहले तो सुननेवाले को सच्चे शास्त्र की पहिचान करनी पड़ेगी। सब अपना सच्चा ही कहते हैं—परन्तु कहीं सबमें सच्चा नहीं होता, सच्चा कौन सा—यह तो लेनेवाले को निर्णय करना पड़ेगा।

एक बात समझने की रुचि चाहिए और इस बात के श्रवण-मनन में समय व्यतीत करना चाहिए। संसार का पढ़ने के लिये कितने वर्ष व्यतीत करता है? तथापि वहाँ तो पूर्व के पुण्य अनुसार प्राप्त होता है, पुण्य बिना कुछ मिलता नहीं। लौकिक चतुराई—विद्या, धन इत्यादि सब पूर्व के शुभभाव का फल है और उसे प्राप्त करने के लिये वर्तमान में जो नये रागादिभाव करता है, वह भविष्य के लिये 'पाप की नोट' बाँधता है; यहाँ ऐसा कहना है कि लौकिक चतुराई या पैसा इत्यादि कोई अपूर्व नहीं है, वह तो पूर्व में अनन्त बार मिल चुका है, परन्तु आत्मा की सच्ची समझ पूर्व में अनन्त काल में की नहीं, उसमें अनन्त पुरुषार्थ है और वही अपूर्व है।

आत्मा मुक्तस्वरूप—स्वतन्त्रदशा की बात परमागम से ज्ञात होती है। संसाररूपी महासमुद्र में प्राणी अज्ञान से डूब रहे हैं और अलग-अलग अनेक प्रकार के भव कर रहे हैं; अनन्त-अनन्त काल से आत्मवस्तु को समझे बिना दुःख में डूब रहे हैं, उसमें जिस जीव को मोक्ष की अभिलाषा हो, ऐसे भव्य जीव को संसारसमुद्र से तिर जाने के लिये सच्चे शास्त्र का श्रवण-मनन और ज्ञान हस्तावलम्बन समान आधार है तथा परमागम का ध्यान सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का शिखामणी है। अर्थात् इस परमागम के ज्ञान से ही वैराग्य शोभता है। बाहर में त्यागी-वैरागी हो परन्तु यदि अन्दर आत्मा का भान न हो तो वह बिना अंक के शून्य समान है। वैराग्य की शोभा तो आत्मा की पहिचान से ही है। आत्मा की पहिचान परमागम के ज्ञान से है; वह ज्ञान प्राप्त करे तो वैराग्य सच्चा; आत्मा के पर से निराले स्वरूप के भान बिना का त्याग, वह सच्चा त्याग नहीं है।

आत्मा की निश्चय मोक्षदशारूप महल में चढ़ने के लिये परमागम का ज्ञान, वह पहला सोपान है। भगवान आत्मा जिसका स्वरूप पूर्ण ज्ञानानन्द है, उसे प्रगट होने का पहला सोपान शास्त्र श्रवण है। परमागम के ज्ञान बिना आत्मा मोक्षपन्थ में गमन नहीं कर सकता। यह आत्मा अनादि से अपने आनन्दस्वभाव को भूलकर तृष्णा से उत्पन्न होते अशुभराग के अंगारों से जल रहा है, उसे शास्त्र मार्ग बताता है कि:—तुझमें ही सुखशान्ति भरी है, उसमें ही स्थिर हो। इस प्रकार तृष्णारूपी अग्नि से बचने के लिये परमागम शास्त्र जल से भरपूर बादल समान है।

परवस्तु की इच्छा से पूरी दुनिया दु:खी है। राजा माँगता है राज्य, रंक माँगता है रोटियाँ; सब तृष्णा से जल रहे हैं। सत्शास्त्र उन्हें समझाते हैं कि 'तेरा सुख कहीं परवस्तु में नहीं है। तुझमें ही तेरी शान्ति भरी है, उसमें लक्ष्य करके स्थिर हो।' इस प्रकार समस्त दु:खीजनों के क्लेश का नाश करने के लिये जल से भरे हुए बादल समान भगवान की वाणी है। यथार्थ तत्त्व सुनने की जिसे जिज्ञासा है, संसार दु:ख से जो भय प्राप्त हैं और आत्मा के स्वभाव को पहिचानने की जिसे रुचि हुई है, ऐसे भव्य जीवों को बादल समान भगवान की ध्वनि है। इस संसार में चौरासी लाख के अवतार में दु:ख से पीड़ित प्राणी को परमागम शास्त्र महान आधार है। भगवान ने कहे हुए शास्त्र द्वारा जड़-चेतन के भिन्नस्वरूप को जानकर अनादि अज्ञान से अपने आत्मा को स्वयं पृथक् करता है और आत्मा की पहिचान करके स्थिर होने से—अन्दर निर्विकल्प स्वरूप में स्थिर होने से समस्त विभाव छूट जाता है और मुक्तदशा प्रगट होती है, इसलिए—

सभी प्राणियों को सर्वज्ञ कथित शास्त्र का हमेशा श्रवण, मनन, चिन्तवन, व्याख्यान करना चाहिए। प्रमाद छोड़कर, आलस छोड़कर, संसारभावरूप होली छोड़कर चैतन्यस्वरूप को समझानेवाले ऐसे परमागम शास्त्रों का निरन्तर अभ्यास करना, वह आवश्यक है।

निरन्तर स्वाध्याय करो!

★★★★★

व्याख्यान नं. ८, दिनांक २७-४-१९४४, गुरुवार

गाथा आठवीं चालू।

आगम का ज्ञान किसे कहना, यह बात चलती है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि

(आर्या)

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
नि:सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञान-मागमिन:।।

सब कहते हैं कि हम शास्त्र जानते हैं, परन्तु वास्तव में तो आगम का ज्ञान उसे कहा जाता है कि जो अल्प अर्थ न जाने, अधिक न जाने, सन्देहरहित जाने और विपरीत न जाने, परन्तु जैसा हो वैसा यथार्थ जाने तो उसे आगम का ज्ञान है। बाकी तो दुनिया पूरी कहती है कि हमे शास्त्र का ज्ञान है परन्तु अन्दर तो सच्चा शास्त्र कौन सा, उसकी ही पहले तो खबर न हो, फिर शास्त्र में कौन सा वाक्य किस नय का है, वह समझे नहीं और उल्टे अर्थ बैठाये, वह सच्चा समझा नहीं है। सच्चा समझे बिना वैराग्य नहीं आता और वैराग्य बिना मुक्ति नहीं होती। वस्तु का ज्ञान तो नि:सन्देह हो। 'मैंने ऐसा माना है परन्तु हो वह ठीक' ऐसा सन्देह पड़े, उसे ज्ञान ही नहीं है।

पैसा कमाने में से और स्त्री आदि से निवृत्त हो, आत्मा की गरज हो, सत्समागम करे और अनन्त काल में सच्चा नहीं समझा, उसे समझने की धगश करे, तब ऐसा ज्ञान करे न! अपना कल्याण करने के लिये भव्य जीवों को आवश्यक है कि भगवान के कहे हुए शास्त्रों की पहिचान करके, उनकी प्रतीति करके उसमें नि:सन्देह होकर, चित्त को धारकर अपना कल्याण करो!

धर्म की कला में समझे बिना यह सब सिर मारे, परन्तु वह धर्म की समझ नहीं है। धर्म की समझ ऐसी चाहिए कि वीतराग के वचनों की जैसे है, वैसे सन्देहरहित प्रतीति करके जानने से वह आत्मा के अमृतरस को बतावे।

टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि —

(हरिणी)

ललितललितं शुद्धं निर्वाणकारणकारणं,
निखिलभविनामेतत्कर्णामृतं जिनसद्वचः।
भवपरिभवारण्यज्वालित्विषां प्रशमे जलं,
प्रतिदिनमहं वन्दे वन्द्यं सदा जिनयोगिभिः।।१५।।

सर्वज्ञ भगवान की वाणी को मैं प्रतिदिन नमस्कार करता हूँ; कैसी है वह जिनवाणी?

मनोहर—अद्भुत है, शुद्ध है, निर्वाण का कारण जो रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति का उपाय है, सब प्राणियों के कान को अमृत समान है; चौरासी लाख के अवताररूपी जंगल में जीव सुलग रहे हैं, उन्हें शान्त करने के लिये भगवान की वाणी जल समान है। चौरासी लाख की धगधगती अग्नि सुलग रही है।

यहाँ किसी को **प्रश्न** होता है कि—संसार में अग्नि कहाँ थी, बँगला इत्यादि में रहनेवाले कहाँ सुलगते हैं?

उसका **उत्तर**:—बँगला इत्यादि में सुखबुद्धि मानकर अर्थात् अपने सुख के लिये पर की गुलामी मानी, वही अग्नि है, उसमें सुलग रहा है। आत्मा का आनन्द आत्मा में है, उसे न मानकर मुझे परवस्तु के बिना नहीं चलता, ऐसी मान्यता, वही अग्नि है, उसमें सुलग रहे संसार से भयभीत जीवों को शान्त करने के लिये वीतराग की वाणी अमृत समान है।

और वह वाणी वीतरागी योगियों द्वारा वन्दनीय है, अर्थात् कि जिसे अन्तर में पुण्य-पाप का आदर है, ऐसे जीव उस वीतरागता को बतलानेवाली वाणी का आदर नहीं कर सकेंगे। साक्षात् वीतराग के ऊपर प्रेम रखना, वह भी राग है; जिनवाणी तो वीतरागस्वरूप को बतलानेवाली जैनयोगियों से सदा वन्दनीय है। इस प्रकार अरिहन्तदेव और उनकी वाणी का स्वरूप बतलाया।

★★★★★

गाथा-९

अब नौवीं गाथा में तत्त्वार्थ क्या-क्या हैं, यह बतलाते हैं:—

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता।।९।।

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ च काल आकाशम्।
तत्त्वार्था इति भणिताः नानागुणपर्यायैः संयुक्ताः।।९।।

सर्वज्ञ भगवान ने जगत में छह वस्तुएँ देखी हैं।

(१) जीव—अनन्त हैं।

(२) पुद्गल-परमाणु—अनन्तान्त हैं।

(३) धर्मास्तिकाय—एक है।

(४) अधर्मास्तिकाय—एक है।

(५) आकाश—एक है।

(६) कालाणु—असंख्यात हैं।

इन छह द्रव्यों को तत्त्वार्थ कहा है। यह छहों अनादि-अनन्त वस्तुएँ हैं।

अब जीव का स्वरूप विस्तार से बतलाते हैं—

१—स्पर्श रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मनबल, वचनबल, कायबल, आयु तथा श्वासोच्छ्वास ऐसे दस प्राणों से जो (संग्रहनय से) जीता है-जीता आया है और जीवेगा, वह जीव है। यहाँ संग्रहनय से बात की है। सब जीवों को दस प्राण नहीं होते, तथापि दस प्राण प्राप्त करने की शक्ति पड़ी है, इस प्रकार कहा है। दस से कम प्राणवाले सभी जीव संग्रहनय में ले लेना। व्यवहार से दस प्राण से जीता है, वह जीव है।

२—निश्चय से तो चैतन्यप्राण (ज्ञान) से जो तीनों काल जीता है, वह जीव है। जानना-देखना, वह प्रत्येक जीव में अनादि-अनन्त है। तीनों काल है। भावप्राण से

त्रिकाल टिकना, वह निश्चय है और इन्द्रियादि बाह्य निमित्त-संयोगी वस्तु से जीता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है।

३-४—जीव=जीवे, वह जीव। शुद्धनिश्चय से सहज ज्ञानानन्द परम स्वभाव गुण के आधारभूत जीव होने से वह 'कारणशुद्ध जीव' है। शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय से यह आत्मा केवलज्ञान-केवलदर्शन इत्यादि निर्मल गुण प्रगटें, उनका आधार होने से 'कार्यशुद्ध जीव' है। आत्मा त्रिकाली वस्तु है। उसमें से केवलज्ञान की निर्मल अवस्था प्रगट हुई, वह कार्य है और उस अवस्था का आधार जीवद्रव्य होने से वह कार्यशुद्धजीव है। केवलज्ञान स्वयं अवस्था है—द्रव्य या गुण नहीं। आत्मा द्रव्य है, उसका ज्ञानगुण है, ये दोनों त्रिकाल हैं। केवलज्ञान तो अवस्था है, वह अवस्था अनादि-अनन्त नहीं होती; केवलज्ञान अवस्था हुई, वह कार्य है और उस अवस्था का काम आत्मा में हुआ होने से आत्मा कार्यशुद्ध जीव है।

ऊपर 'शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय से.... कार्यशुद्ध जीव है' ऐसा किसलिए कहा है, यह समझाते हैं :—

केवलज्ञान निर्मल पर्याय है, इसलिए शुद्ध; अपनी ही पर्याय है, इसलिए 'सद्भूत'; और आत्मा अखण्ड है, उसमें गुण-गुणी का भेद पड़ा, इसलिए अथवा तो केवलज्ञान अवस्था है, इसलिए व्यवहार है। निश्चय से तो आत्मा अभेद अखण्ड एकरूप द्रव्य है। उस निश्चय की अखण्ड श्रद्धा के जोर से शुद्ध पर्याय उघड़ी, वह द्रव्य की ही पर्याय है और निर्मल है, इसलिए उसे 'शुद्ध सद्भूतव्यवहार' कहा है तथा केवलज्ञान कार्य है और उस कार्य में टिकता जीव, वह 'कार्यशुद्ध जीव' है।

पूर्ण चैतन्यद्रव्य, वह निश्चयकारण; केवलज्ञान पर्याय, वह कार्य और मति-श्रुत इत्यादि पर्याय, वह अधूरा कारण अर्थात् व्यवहार कारण / पहली पर्याय, वह दूसरी पर्याय का व्यवहार से कारण है। इस प्रकार दूसरी पर्याय वह पहली पर्याय का कार्य है। इस अपेक्षा से मति-श्रुत को केवलज्ञान का कारण कहा जाता है।

जीना अर्थात् टिका रहना, उसके चार प्रकार कहे —

(१) बाह्य दस प्राण से जीता है, यह व्यवहार है।

(२) त्रिकाली चैतन्यप्राण से जीता है। उसमें केवलज्ञानपर्याय से जीता है, ऐसा नहीं लिया परन्तु त्रिकाल चैतन्यप्राण से जीता है, ऐसा लिया है। यह निश्चय है।

(३-४) आत्मा के गुण की श्रद्धा, ज्ञान और एकाग्रता द्वारा जो केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह अवस्था गुण में शक्तिरूप थी, वही प्रगटी है, इसलिए सद्भूतव्यवहार और शुद्ध पर्याय होने से 'शुद्ध सद्भूतव्यवहार' कहा है। इस प्रकार शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय से 'कार्यशुद्ध जीव' कहा और शुद्ध निश्चयनय से 'कारणशुद्ध जीव' कहा। अब पाँचवाँ प्रकार वर्णन करते हैं।

५— अशुद्ध सद्भूतव्यवहारनय से मतिज्ञानादि विभाव गुण के आधार से जीता है, इसलिए अशुद्ध जीव है।

मतिज्ञान, वह हीन पर्याय है, इसलिए विभाव है। (यहाँ पर्याय को गुणरूप से लिया है)। मति-श्रुत वह अभी अपूर्ण निर्मल अवस्था है, इसलिए 'अशुद्ध', अपनी ही पर्याय है, इसलिए 'सद्भूत' तथा पर्याय का भेद है, इसलिए 'व्यवहार'।

जीव किसे कहना, इसके पाँच प्रकार कहे —

१— व्यवहार से दस प्राणों द्वारा जीता है, वह जीव; यह व्याख्या पर में जाती है।

२— निश्चय से चैतन्य प्राणों से जीता है, वह जीव; यह व्याख्या द्रव्य के आश्रित है।

३— शुद्ध निश्चयनय से सहज ज्ञानादि परम स्वभाव गुण के आधारभूत जीव होने से वह 'कारणशुद्ध जीव' है।

४— शुद्धसद्भूत व्यवहार से केवलज्ञानादि शुद्ध पर्याय से जीता है, इसलिए 'शुद्धकार्य जीव' है।

५— अशुद्ध सद्भूतव्यवहार से मति-श्रुत इत्यादि पर्याय से जीता है और मति-श्रुत इत्यादि पर्याय अशुद्ध है, इसलिए 'अशुद्ध जीव' है।

यह बात सूक्ष्म लगे परन्तु तू समझनेवाला भी सूक्ष्म ही है न! तेरा स्वरूप समझे बिना तेरी खबर तुझे किस प्रकार पड़ेगी? यह तेरा ही स्वरूप कहा जाता है। शरीर तेरा नहीं है, क्योंकि सिद्धदशा में नहीं रहता। तेरा स्वरूप सिद्धसमान है, जो सिद्धदशा में न

रहे, वह तेरा स्वरूप नहीं और जो सिद्ध को हो, वह तुझे भी हो। निश्चय से तो जीव त्रिकाली चैतन्य प्राण से जीता है। शुद्ध सद्भूत प्राण, वह केवलज्ञान तथा अशुद्ध सद्भूत प्राण, वह मति-श्रुत; यह दोनों व्यवहार है।

दृष्टि के अभेद विषय में पर्याय गौणपने है, परन्तु अभावरूप नहीं। इसलिए ज्ञान में तो सब आता है। जीवतत्त्व को जिस प्रकार सर्वज्ञ ने कहा, उस प्रकार जाने बिना और श्रद्धा किये बिना समझ में किस प्रकार आयेगा? मोक्षमार्ग में बीच में मति-श्रुत, वह अशुद्ध पर्याय है, उसे निर्मल माने तो तत्त्व की खबर नहीं और उस अशुद्ध पर्याय को न माने तो भी तत्त्व की खबर नहीं, अशुद्ध पर्याय को स्वरूप मान ले तो भी तत्त्व की खबर नहीं। उसी प्रकार शुद्ध पर्याय-केवलज्ञान पर्याय है, उसे द्रव्य मान ले तो तत्त्व की खबर नहीं और केवलज्ञान की शुद्ध पर्याय है, उसे न जाने तो भी तत्त्व की खबर नहीं। जिस प्रकार आगम में कहा, उस प्रकार सभी पहलुओं से स्वरूप समझना चाहिए।

वस्तु अर्थात् चैतन्यप्राण; संयोग अर्थात् इन्द्रियप्राण; पूर्ण पर्याय अर्थात् केवलज्ञान-वह कार्य; और हीन पर्याय अर्थात् मति-श्रुत इत्यादि—वह कारण (व्यवहार से)।

आत्मा चैतन्यवस्तु है। चैतन्य द्रव्य के गुण भी चैतन्यमय है; अमूर्तिक है, अरूपी है—स्वयं अरूपी है तो गुण भी अरूपी है और स्वयं अमूर्तिक है तो गुण भी अमूर्तिक है। जो जीव शुद्ध है, उसके गुण भी शुद्ध है और जो जीव अशुद्ध है, उसके गुण अशुद्ध हैं—तथा (दोनों में) पर्याय वैसी ही है। जीव अशुद्ध हो या शुद्ध हो, परन्तु है तो अरूपी ही, रूपी नहीं। रागी-द्वेषी जीव को यहाँ अशुद्ध कहा है तथा वह आत्मा भी अशुद्ध कहा है। तथा जिसकी अवस्था शुद्ध हुई है, उसके गुण और वस्तु दोनों शुद्ध हैं। वास्तव में वस्तु और वस्तु के गुण तो त्रिकाल एकरूप शुद्ध हैं, परन्तु अशुद्ध पर्याय के आरोप से गुण और वस्तु को भी अशुद्ध कहा गया है।

गुण का परिणमन वह पर्याय है; इसलिए ज्ञानगुण त्रिकाल निर्मल रहा, ऐसा नहीं। यदि गुण त्रिकाल निर्मल हो तो मलिन अवस्था कहाँ से आती है? इसलिए जैसी अवस्था प्रगटी, उसे गुण कहा गया है। यहाँ अवस्था दृष्टि की मुख्यता से बात है—ऐसा समझना।

इस प्रकार छह द्रव्यों में से जीव का स्वरूप बतलाया। अब पुद्गल का स्वरूप बतलाते हैं :—

'पुद्' अर्थात् मिलना और 'गल' अर्थात् गलना। जो पूरण और गलन अर्थात् इकट्ठे हों और पृथक् पड़ें, ऐसा स्वभाव वह पुद्गल का है। सफेद-काले इत्यादि रंग का आधार पुद्गल है। आत्मा ज्ञानादि गुण का आधार है, पुद्गल रंग इत्यादि गुणों का आधार है। शरीरादि के रंग को आत्मा नहीं कर सकता। और पुद्गल मूर्तिक है, दिखाई दे, ऐसी चीज़ है। मूर्तिक वस्तु के सब गुण भी मूर्तिक है। (मूर्तिक अर्थात् इन्द्रियज्ञान से दृश्यमान)।

आत्मा में पुद्गल नहीं है, पुद्गल पुद्गल में ही है, वह निश्चय से है। केवली दशा आत्मा की है, रजकण की नहीं। रजकण की अवस्था को आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श का आधार पुद्गल है। रजकण रूपी हैं, उनके गुण भी रूपी हैं; पुद्गलद्रव्य अचेतन है, उसके गुण भी अचेतन है। इन्द्रियज्ञान द्वारा जो ज्ञात हो-दिखाई दे, वह जड़ है, अचेतन है, रूपी है। जीव इन्द्रिय द्वारा ज्ञात नहीं होता, क्योंकि वह अरूपी है। जो-जो इन्द्रिय द्वारा जाना जा सकता है, वह सब पुद्गल की अवस्था है।

इस प्रकार जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की व्याख्या हुई।

३— धर्मास्तिकाय—स्वभाव से अथवा विभाव से गमन करते जीव और पुद्गलों को गति करने में उदासीन निमित्त, वह धर्मास्तिकाय है। उदासीन अर्थात् मात्र उपस्थितिरूप, वह किसी को गति करने के लिये प्रेरित नहीं करता। जीव पूर्ण निर्मल होकर ऊर्ध्वगमन स्वभाव से मोक्ष जाये, वह स्वभावगमन है तथा चार गति में शरीरसहित गति करे, वह विभावगमन है। इन दोनों में धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है। एक पृथक् परमाणु गमन करे, वह स्वभावगमन है तथा अनेक परमाणु इकट्ठे मिलकर—स्कन्धरूप होकर गति करे, वह विभावगमन है, इन दोनों में धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है। पुद्गल में गति करने की शक्ति स्वतन्त्र है। सातवें पाताल से गति करके एक समय में चौदह राजूलोक पहुँच जाये, ऐसी शक्ति एक-एक परमाणु में है। इस प्रकार स्वाभाविक तथा विभाविक

गति करते हुए जीव-पुद्गल को उदासीन सहायक (साथ में उपस्थित रहनेवाला), वह धर्मास्तिकाय द्रव्य है।

४— अधर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल स्वभाव से या विभाव से स्थितिरूप परिणमन करे, उसमें उदासीन निमित्त, वह अधर्मद्रव्य है।

जीव की सिद्धदशा में स्थिरता, वह स्वाभाविक स्थिति है; संसार में रहा, वह विभाविक स्थिति है तथा एक पृथक् रजकण स्थिर रहा, वह स्वाभाविक स्थिति है और स्कन्ध स्थिर रहे, वह विभाविक स्थिति है, इन सबमें अधर्मद्रव्य उदासीन सहायक (उपस्थितिरूप निमित्त) है।

५— आकाश—ऊपर जो दिखता है, वह आकाशद्रव्य नहीं परन्तु वह तो पुद्गल की अवस्था है। आकाश तो अरूपी और सर्वव्यापक है; अन्य पाँचों द्रव्यों को रहने की जगह देनेवाला आकाशद्रव्य है।

६— काल—अन्य पाँचों द्रव्यों को परिणमन में (अवस्था बदलने में) हेतु कालद्रव्य है, वह अमूर्तिक है और उसके असंख्यात अणु हैं, उन्हें कालाणु कहा जाता है।

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का स्वरूप बतलाया; उनमें पुद्गल के अतिरिक्त सब अरूपी हैं, इन्द्रिय से ज्ञात हों वैसे नहीं हैं। तथा धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल—ये चार द्रव्य, उनके गुण और पर्याय त्रिकाल शुद्ध है, उसमें कभी विकार नहीं होता।

★★★★★

व्याख्यान नं. ९, दिनांक २८-४-१९४४, शुक्रवार

गाथा नौवीं चालू।

छह द्रव्यों की व्याख्या आ गयी है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये छहों अनादि-अनन्त वस्तुएँ हैं, उनका वर्णन कल कहा गया है।

अब टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि —

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाम्भोधि-मध्यस्थरत्नं,
द्युतिपटलजटालं तद्धि षड्द्रव्यजातम्।
हृदि सुनिशित-बुद्धिर्भूषणार्थं विधत्ते,
स भवति परमश्री-कामिनी-कामरूपः ।।१६।।

छह द्रव्यरूपी रत्न के समूह को प्रकाशित करनेवाली ऐसी ज्ञान ज्योति के धारक श्री जिनेन्द्र भगवान के मार्ग में छह द्रव्यों का स्वरूप रहा हुआ है। इसके अतिरिक्त छह द्रव्यों का यथार्थस्वरूप कोई कहता नहीं। सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान में छह द्रव्य जैसे हैं, वैसे ज्ञात हुए, और जैसे ज्ञात हुए, वैसे ही सर्वज्ञ भगवान ने दिव्यध्वनि द्वारा कहे, इस प्रकार सर्वज्ञ ने मार्ग बतलाया है, किया नहीं है। मार्ग तो अनादि-अनन्त है। उस मार्ग में ही छह द्रव्यों का स्वरूप बतलाया है। जो कोई निर्मल बुद्धिवाला अपनी निर्मल बुद्धि से इन छह द्रव्यरूपी रत्नों को अपने अन्दर में धारण करता है अर्थात् यथार्थ ज्ञान करता है, वह मुक्तिरूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

छहों द्रव्यों को जानने का स्वभाव अपने आत्मा का है। जिसने छह द्रव्यों को यथार्थरूप से स्वीकार किया, उसने अपने अनन्त शक्तिवाले आत्मा को स्वीकार किया है। एक मेरा ज्ञानस्वभाव ही ऐसा है कि जिसमें छहों द्रव्य ज्ञात होते हैं, उस ज्ञान में अपना भी निर्णय करता है कि 'मैं ही सबको जाननेवाला ज्ञानमूर्ति आत्मा हूँ। मेरे ज्ञान में सभी वस्तुएँ ज्ञात होनेयोग्य है। एक ओर राम तथा दूसरी ओर गाँव। इसी प्रकार एक ओर मेरा ज्ञान, वह जाननेवाला और सामने तीन काल-तीन लोक, वे ज्ञेय-मेरे ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य; वर्तमान जितना हीन ज्ञान है, वह हीनता राग-द्वेष के कारण है, परन्तु

मेरा ज्ञानस्वभाव हीन या अधूरा नहीं है। मैं एक समय में पूर्ण जाननेवाला हूँ। वर्तमान जितना ही न ज्ञात हो, वह पर्याय में पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण से है, परन्तु पर्याय में जो पुरुषार्थ की निर्बलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं, मैं तो उसका भी जाननेवाला-देखनेवाला ही हूँ।' इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करे, उसे मुक्तिरूपी स्त्री (शुद्ध परिणति) अल्प काल में प्राप्त होती है।

मैं जाननेवाला हूँ, जाननेवाले स्वभाव में कुछ न ज्ञात हो, ऐसा आता नहीं; इसलिए मैं सब जाननेवाला हूँ। जो नहीं ज्ञात होता, उतना राग-द्वेष के कारण तथा पुरुषार्थ की वर्तमान निर्बलता के कारण नहीं ज्ञात होता, परन्तु राग-द्वेष और पुरुषार्थ की निर्बलता ही मैं नहीं; मैं तो जाननेवाला ही हूँ—जानने में राग-द्वेष नहीं। छह द्रव्य, स्वर्ग, नरक, लक्ष्मी, इज्जत इन सबका मैं तो जाननेवाला हूँ। छह द्रव्य का ज्ञान करूँ, परन्तु मेरे ज्ञान में वे प्रविष्ट नहीं हो जाते; इस प्रकार स्वभाव की प्रतीति होकर उसमें एकाग्र हुआ, उसे मुक्तिरूपी श्रेष्ठ लक्ष्मी प्राप्त होती है। यहाँ मुक्तदशा को ही आत्मा की लक्ष्मी कहा है।

छह द्रव्य भगवान ने देखे और बतलाये, वे छहों द्रव्य अनादि-अनन्त हैं, मैं उनका करनेवाला नहीं, जाननेवाला ही हूँ; जानने में 'यह अच्छा और यह अच्छा नहीं', ऐसा करनेवाला भी मैं नहीं। ऐसा जिसने अन्तर में ज्ञान प्राप्त किया है, वह क्रम-क्रम से राग-द्वेष टालकर पूर्ण ज्ञानरूपी लक्ष्मी प्राप्त करता है, वह लक्ष्मी सदा टिकी रहती है, वह कभी समाप्त नहीं होती।

छह द्रव्य का स्वरूप जैसा है, वैसा समझे तो आत्मा समझ में आये। परन्तु जगत को आत्मा की दरकार नहीं। संसार का करना हो तो तैयार! क्योंकि वहाँ पैसे इत्यादि नजर से दिखते हैं, परन्तु वह तो सब पुण्य के फल हैं, उसमें आत्मा को लाभ नहीं है। आत्मा के पुरुषार्थ से छह द्रव्यों को जाने और उसमें 'जाननेवाला मैं, मेरा स्वरूप पूर्ण जानना' ऐसे स्वभाव की श्रद्धा करे, तब फिर भी जब तक पूर्ण दशा प्रगट नहीं हुई, तब तक सन्तोष मिलेगा नहीं। अर्थात् पुरुषार्थ किया ही करेगा और राग-द्वेष टालकर ज्ञान ही करेगा।

आत्मा का स्वरूप अरूपी, उसका सब अरूपी ही होगा; आत्मा का ज्ञान अरूपी,

उसकी श्रद्धा अरूपी, उसका मार्ग अरूपी, उसका फल अरूपी; अरूपी का सब अरूपी है। अरूपी को जाननेवाला स्वयं अरूपी है, परन्तु अपने को जानने की कभी दरकार नहीं की, इसलिए कठिन हो, ऐसा लगता है, परन्तु कठिन है नहीं।

गाथा-१०

अब जीव के उपयोग का लक्षण कहते हैं :—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं ति।।१०।।

जीव उपयोग-मयः उपयोगो ज्ञान-दर्शनं भवति।
ज्ञानोपयोगो द्विविधः स्वभावज्ञानं विभावज्ञानमिति।।१०।।

यह १० से १५ तक की गाथायें ऊँची हैं। प्रथम ही आत्मा को उठाया है। आत्मा उपयोगमय है, उपयोग अर्थात् स्व-पर को जानने के आत्मा के ज्ञान के भाव; अथवा चैतन्य की अवस्थारूप भाव, वह उपयोग है। उपयोग के दो प्रकार हैं।

१— ज्ञानोपयोग अथवा जानने का उपयोग। और २— दर्शनोपयोग अथवा देखने का उपयोग; उपयोग सब जीवों को हो रहा है। उसमें ज्ञानोपयोग के स्वाभाविक ज्ञान और विभाविक ज्ञान ऐसे दो प्रकार हैं।

आत्मा के चैतन्यगुण के साथ वर्तनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं; आत्मा वस्तु है, उसके चैतन्य अर्थात् जानने-देखने के गुण के साथ क्षण-क्षण में वर्तनेवाला जो भाव, उसका नाम उपयोग है। आत्मा का चैतन्यगुण जानने-देखनेसहित है। 'यह लकड़ी है, यह पुस्तक है, यह राग है' ऐसे ज्ञान के परिणाम आत्मा के साथ वर्तते हैं, वह उपयोग है; अथवा 'यह लकड़ी है' ऐसे आत्मा के चैतन्य में पर को जानने के भाव हुए, वह उपयोग और परिणाम है।

जानना-देखना, वह आत्मा का धर्म है, उसमें कुछ करने-छोड़ने का भाव, वह विकार है। जानने-देखनेरूप व्यापार, वह आत्मा का धर्म है। आत्मा उसका धर्मी है।

लोग बाहर में वस्त्र, अनाज इत्यादि का व्यापार करते हैं, ऐसा मानते हैं, परन्तु वास्तव में तो वस्त्र इत्यादि में 'यह लूँ, यह छोड़ूँ, यह अच्छा' ऐसे भाव से जो लक्ष्य किया, उसमें राग-द्वेष का व्यापार किया है। बाहर की कोई वस्तु आत्मा बदल नहीं सकता, परन्तु अपने भाव बदल सकता है। यहाँ इतना कहना है कि आत्मा का स्वभाव जानने-देखनेरूप व्यापार, वह उपयोग है। जानने-देखने में राग-द्वेष करे तो वह विकारी उपयोग है। और 'मैं तो जानूँ-देखूँ' ऐसा आत्मा का स्वभावभाव, वह आत्मा का उपयोग है अर्थात् स्वभाव उपयोग है। तेरहवीं भूमिका में उपयोग का जुड़ान नहीं, वहाँ तो परिणमन अखण्ड है।

आत्मा के परिणाम आत्मा के साथ होते हैं, वह उपयोग है; उसमें राग-द्वेष करे तो वह विकारी है और राग-द्वेष न करके मात्र जाने, वह धर्म है। संसार की सुविधा या असुविधा पुण्य-पाप से मिलती है— उस पुण्य-पाप की यहाँ बात नहीं है, यहाँ तो धर्म की बात है। सच्ची समझ के मन्त्र कहे जाते हैं कि जो समझे, उसमें रस लगे, प्रीति हो और अन्दर उतर जाये, तब स्वरूप का आनन्द आवे।

धर्म अर्थात् क्या? कि आत्मा का जानने-देखने का स्वभाव, वह उसका धर्म और जानने-देखनेवाला ऐसा आत्मा, वह धर्मी। आत्मा का धर्म आत्मा से बाहर नहीं हो सकता। आत्मा में जानना-देखना और स्थिर होना, वही धर्म है।

आत्मा दीपक समान है और जानने-देखने के भाव, वे प्रकाश समान हैं; जैसे दीपक और प्रकाश एक है, वैसे जानने-देखनेरूप आत्मा का स्वभाव और आत्मा दोनों एक है; अधूरी अवस्था में जो राग-द्वेष होते हैं, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

आत्मा में उपयोग (व्यापार) हो, उसके दो प्रकार हैं—

१— जानने का, २— देखने का।

देखना अर्थात् दर्शनोपयोग; आत्मा का सामान्य व्यापार; पर को जानने से पहले छद्मस्थ को सामान्य चैतन्य का व्यापार हो, वह दर्शनोपयोग तथा पर को जानने के लिये चैतन्य का विशेष व्यापार, वह ज्ञानोपयोग है। ज्ञान उपयोग अर्थात् जानने का व्यापार। उसके दो प्रकार हैं। १— स्वाभाविक ज्ञानोपयोग, २— विभाविक ज्ञानोपयोग।

अब स्वाभाविक ज्ञानोपयोग का वर्णन करते हैं—स्वाभाविक अर्थात् आत्मा का स्वभाव; स्वाभाविक ज्ञान अमूर्तिक है अर्थात् रूपरहित है, उसे कोई पीड़ा (आवरण) नहीं है, इसलिए अव्याबाध है; इन्द्रिय या मन का निमित्त नहीं, इसलिए अतीन्द्रिय है और कभी उसका नाश नहीं होता, इसलिए अविनश्वर है; ऐसा स्वाभाविक ज्ञान, वह अपना स्वभाव है। राग के कारण, इन्द्रियों के कारण या निमित्त के कारण वह ज्ञान नहीं है, परन्तु अपने स्वभाव से है।

पहले उपयोग के दो प्रकार कहे, ज्ञान और दर्शन; ज्ञानोपयोग के दो प्रकार कहे—स्वाभाविक और विभाविक;

अब स्वभाव ज्ञानोपयोग के भी दो प्रकार हैं—

(१) कार्यरूप स्वाभाविक ज्ञानोपयोग (२) कारणरूप स्वाभाविक ज्ञानोपयोग।

यह सब कहकर जीवतत्त्व की पहिचान दी है, जीव का स्वभाव क्या है, यह बतलाया है। केवलज्ञान की निर्मल पर्यायरूपी कार्य प्रगट हुआ, वह कार्य स्वभाव ज्ञानोपयोग है तथा कारणस्वभाव ज्ञान जो कि द्रव्य की त्रिकाली शक्ति है, उसे भी उपयोग कहा है। आत्मा के परिणाम में जो कार्यस्वभाव, वह तो उपयोग है, परन्तु कारणस्वभाव ज्ञान को उपयोगरूप से यहाँ वर्णन किया है, क्योंकि यहाँ उपयोग के भेद की बात चलती है।

आत्मवस्तु में शरीर, मन, वाणी नहीं; राग-द्वेष होते हैं, वे भी विकार में जाते हैं, उन रहित एक सहजज्ञान कारणस्वभाव ज्ञान उपयोग त्रिकाल है। जो केवलज्ञान पर्याय हुई, वह कार्यस्वभाव ज्ञान उपयोग है। और उसका (केवलज्ञान का) कारण द्रव्य में तीनों काल रहा है, वह कारणस्वभाव ज्ञान उपयोग है; वह उपयोग परिणमनरूप है—परन्तु प्रगटरूप नहीं; यदि वह परिणमन प्रगटरूप हो तो कार्य प्रगटने का रहे कहाँ?

टीका में '**पारिणामिकभाव स्थित**' ऐसा शब्द पड़ा है। परमपारिणामिकभाव है, उसकी बात नहीं है, वह तो द्रव्यरूप त्रिकाल है, उसकी पर्याय निरपेक्ष, कारणरूप, त्रिकाल, उत्पाद-व्यय-परिणमनरहित, उपाधिरहित अन्दर वर्तती है, उस पर्याय की बात चलती है। कारणस्वभावरूप भाव अथवा ध्रुवरूप भाव अथवा त्रिकालरूप भाव वर्तमान वर्त रहा है, वह निरपेक्ष पर्याय है।

पद्मप्रभमलधारिदेव ने अद्‌भुत टीका की है। सब हल करके स्पष्ट बात की है। अन्दर वस्तु है, वह त्रिकाल है, उसके गुण त्रिकाल हैं, उसमें चैतन्यगुण के साथ वर्तनेवाले परिणाम के (उपयोग के) दो भेद हैं—(१) कार्यरूप-केवलज्ञान और (२) कारणरूप-त्रिकाल है। परमपारिणामिकभाव जो त्रिकाल है, उसमें रहा हुआ कारणरूप ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान उपयोग त्रिकाल है। वस्तु के गुण का वर्तमान उपयोग है, वह त्रिकाली स्वभावरूप उपयोग है। यहाँ तो वर्तमान परिणमनरूप उपयोग, उसके दो भेद— १— पूर्ण कार्यरूप उपयोग और २— गुण में वर्तमान स्वभावरूप कारण उपयोग। वह कारणरूप उपयोग वर्तमान में ध्रुवरूप से है। यदि वर्तमान में ध्रुवरूप से कारण न हो तो वर्तमान प्रगटरूप पर्याय टिके किसके आधार से?

गुण में हो, वह पर्याय में आता है, ऐसा तो सब कहते हैं, वह अवस्था वर्तमानमात्र है; वर्तमान में कारणरूप ध्रुवपर्याय न हो तो वर्तमान में कार्यरूप पर्याय प्रगट आ नहीं सकती; जो प्रगट कार्य आता है, उसका वर्तमान प्रगटरूप कारण अन्दर एकरूप है।

ज्ञानगुण, वह त्रिकाल है, उसकी पर्याय में भेद पड़ते हैं, ज्ञान की वर्तमान प्रगट उत्पादरूप पर्याय है, वह कार्यरूप ज्ञान है और वर्तमान स्वाभाविक त्रिकाल एकरूप है, वह कारणरूप ज्ञान है।

केवलज्ञान के कारणरूप परमपारिणामिकभाव में स्थित, तीनों काल उपाधिरहित अर्थात् विभावरहित ऐसा जो आत्मा का सहज ज्ञान अथवा स्वरूपरूप ज्ञान, वह कारणस्वभाव ज्ञान है। केवलज्ञानरूपी कार्य तो वर्तमान, परन्तु पारिणामिकभाव में स्थित ज्ञानगुण का वर्तमानरूप ध्रुव उपयोग, वह भी वर्तमान है।

केवलज्ञान तो पुरुषार्थ से नया प्रगट होता है। परन्तु उस केवलज्ञान की पर्याय प्रगट होने के कारणरूप वर्तमान में एकरूप अखण्ड उपयोग न हो तो वर्तमान प्रगटरूप पर्याय में आवे नहीं। गुण में से पर्याय आवे, यह बात यहाँ नहीं लेनी; वर्तमान ध्रुवपर्याय कारणस्वभाव ज्ञानोपयोगरूप एकरूप पर्याय है, उसमें से कार्यरूप पर्याय प्रगट होती है; केवलज्ञान के कारणरूप ध्रुव वर्तमान उपयोग है, वह अनादि-अनन्त एकरूप है, वह वर्तमान वर्तता है, तथापि उसमें परिणमन नहीं है। यहाँ गुण की त्रिकाल एकरूप निरूपाधिक पर्याय की बात है। (१५वीं गाथा में वस्तु की एकरूप ध्रुव त्रिकाली पर्याय

की बात आयेगी।) ज्ञानगुण की निरुपाधिक अनादि-अनन्त एकरूप ध्रुवपर्याय की बात है, वह कूटस्थ है, वह ध्रुवरूप कायम है, वह वर्तमान-वर्तमान है, परन्तु उसका प्रगटरूप परिणमन नहीं है, उसमें से जो (केवलज्ञान इत्यादि) पर्याय प्रगट होती है, वह उसका परिणमन है। ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसकी एकरूप ध्रुव निरुपाधिक पर्याय, वह भी त्रिकाल एकरूप है। उसमें से मति-श्रुत या केवल पर्याय प्रगट होती है।

जीवद्रव्य में अनन्त गुण हैं, उसमें से एक ज्ञानगुण भी ऐसा है, उस ज्ञानगुण के भेदों का वर्णन चलता है। यह द्रव्य के वर्तमान वर्तते परिणाम की बात है। चैतन्य अनुविधायी परिणाम की बात चलती है। चैतन्य को अनुसरकर वर्तनेवाले परिणाम की बात चलती है; यह बात अन्यत्र कहीं मिलना मुश्किल है, अन्तर की बात है।

एक समयरूप का ज्ञानगुण का उपयोग, त्रिकाल एकरूप ध्रुव सब जीवों में (निगोद में भी) वर्तता है, उसमें से केवलज्ञानरूपी कार्य प्रगट होता है। ज्ञान के स्वभाव उपयोग के दो प्रकार हैं। एक तो कार्यरूप और दूसरा ज्ञानगुण के साथ ध्रुव-त्रिकाल एकरूप कारणस्वभावज्ञान उपयोग है; वह पर्याय कहलाती है, तथापि उसका भोग नहीं है। यदि उसका भोग हो तो (वह पर्याय अनादि-अनन्त एकरूप है इसलिए) मोक्ष भी त्रिकाल होगा, परन्तु उस पर्याय का भोग नहीं, भोग तो प्रगटरूप पर्याय का होता है।

केवलज्ञान प्रगट हुआ है, वहाँ उपयोग कहाँ है? वास्तव में वह अखण्ड हो गया, तथापि उसके कारणरूप एकरूप ध्रुव त्रिकाल वर्तमान में है, उसे भी उपयोगरूप से लिया है। वह (कारणस्वभाव ज्ञान उपयोग) वर्तमान में न हो तो कार्यस्वभाव ज्ञानरूप पर्याय वर्तमान टिक सकेगी नहीं, इसलिए कार्यस्वभाव ज्ञान के कारणरूप कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग एकरूप ध्रुव त्रिकाल वर्तमान में एकरूप है।

कारणरूप स्वभावज्ञान एकरूप अन्दर पड़ा है, उसके द्वारा कार्यस्वभाव ज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट होता है। यह बात बहुत सूक्ष्म है, इसलिए शीघ्र न पकड़ में आये तो भी ध्यान रखकर सुनना। इसका विशेष विशेषरूप अब बाद में कहा जायेगा।

★★★★★

व्याख्यान नं. १०, दिनांक २९-४-१९४४, शनिवार

गाथा दसवीं चालू।

स्वाभाविक ज्ञान की बात हुई, अब विभावज्ञान तीन प्रकार से है, ऐसा वर्णन करते हैं।

कल कहा गया कि—आत्मा का जानने का स्वभाव है। उसमें क्षण-क्षण में जो व्यापार होता है, वह व्यापार अर्थात् कि पर्याय, उसे उपयोग कहते हैं। स्व-पर को जानने से ज्ञान में चैतन्य को अनुसरकर होते परिणाम को उपयोग कहते हैं, उस उपयोग के दो प्रकार हैं; एक तो केवलज्ञान, वह स्वाभाविक ज्ञान उपयोग, उसका वर्णन कहा जा चुका है।

दूसरा प्रकार—जो ज्ञान आत्मा को न जाने और पर को जाने, वह ज्ञान दोषवाला-बन्धनवाला है, उसे विभावज्ञान कहते हैं, उसके तीन भेद हैं। (१) कुमति, (२) कुश्रुत और (३) कुअवधि (विभंग)—

१— **कुमति—** जो ज्ञान अपने को न जानकर पर को जाने, अपने में न रुककर पर में रुके, वह कुमति। आत्मा के अतिरिक्त चौबीसों घण्टे पर में लक्ष्य किया करे अर्थात् आत्मा को चूककर अकेला पर का लक्ष्य, वह कुमति। आत्मा के भान के अतिरिक्त अकेला पर में रुके, वह कुबुद्धि है, परन्तु आत्मा के भानसहित पर में अल्प जुड़े, वह कुबुद्धि नहीं है। अपने को जानना हो, वह न जाने, न समझे और रुचि न करे, उसे कुमति कहा जाता है; मात्र संसार के ही काम में उपयोग किया करना, वह कुमति है। तथा संसार का काम, वही मेरा काम है, ऐसा माननेवाली बुद्धि, कुबुद्धि है।

२— **कुश्रुत—**जो शास्त्रज्ञान से आत्मा न समझ में आये और पुण्य-पाप तथा पर समझ में आये—संसार की बहियाँ समझ में आये, वह ज्ञान कुश्रुत है। आत्मा अनादि-अनन्त है। निर्मल है, उसे न सुनकर पर को सुनना, वह कुश्रुत; राग-द्वेष का वेदन और पुण्य-पाप के भाव वे मेरे, इससे रहित मेरा स्वरूप नहीं—ऐसा वेदन, वह कुश्रुत है।

३—कुअवधि अथवा विभंग अवधि—आत्मा को न जानकर, उघाड़ के कारण स्वर्ग-नगर आदि पर को जाने, परन्तु पर को जाननेवाला अपने को जाने नहीं, ऐसा जो ज्ञान, वह कुअवधि अथवा विभंग अज्ञान है।

कार्यस्वभाव ज्ञानोपयोग और कारणस्वभाव ज्ञानोपयोग इत्यादि बहुत बात आ गयी है। इस चैतन्यगुण के साथ क्षण-क्षण में होता ज्ञान का व्यापार, वह उपयोग— उसकी बात चलती है।

यहाँ (दसवीं गाथा पूरी होने पर) टीकाकार कहते हैं कि—

(मालिनी)

अथ सकल-जिनोक्त-ज्ञानभेदं प्रबुद्ध्वा,
परिहृतपरभावः स्वस्वरूपे स्थितो यः।
सपदि विशति यत्तच्चिच्चमत्कारमात्रं,
स भवति परमश्री-कामिनी-कामरूपः।।१७।।

जो जीव जिनेन्द्र कथित आत्मा के ज्ञान के सम्पूर्ण भेदों को जानकर, मैं ज्ञानस्वरूप निर्मल शुद्ध हूँ, ऐसा जानकर तथा राग-द्वेष को छोड़कर अपने आत्मस्वरूप में स्थिर होता है तथा अपने आत्मा का चैतन्य चमत्कारमात्र स्वभाव अर्थात् जानने-देखने का स्वभाव है, उसमें पर तो सहज ज्ञात हो जाते हैं, ऐसा समझकर अपने आत्मा में प्रवेश करता है, वह मुक्तिरूपी स्त्री का पति होता है।

चैतन्य का चमत्कार ही जानना है, राग-द्वेष के भाव या शरीर, मन, वाणी मेरे, ऐसा मानना, वह चैतन्य का चमत्कार है ही नहीं। चमत्कार है, वहाँ नमस्कार है, यह चमत्कार चैतन्य का ही है। जैसा चैतन्य का चमत्कार है, वैसा कोई जड़ पदार्थ में नहीं है। राग-द्वेष भी क्षणिक है, परन्तु चैतन्य का चमत्कार (ज्ञान), वह त्रिकाल है, उसमें प्रवेश करे, वह मुक्तिरूपी लक्ष्मी को वरता है।

गाथा-११-१२

अब भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं जानने के दो प्रकार करते हैं। ज्ञान कायम वह का वह रहता है, परन्तु ज्ञान का जानने का व्यापार बदला करता है; उस ज्ञानोपयोग के भेद आगामी दो गाथाओं में कुन्दकुन्दाचार्यदेव स्वयं ही कहते हैं —

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं।।११।।

सण्णाणं चउभेयं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं ति-वियप्पं मदियाई भेददो चेव।।१२।।

केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत्स्वभावज्ञानमिति।
सञ्ज्ञानेतरविकल्पे विभावज्ञानं भवेद् द्विविधिम्।।११।।

सञ्ज्ञानं चतुर्भेदं मतिश्रुतावधयस्तथैव मनःपर्ययम्।
अज्ञानं त्रि-विकल्पं मत्यादेर्भेदतश्चैव।।१२।।

आत्मा का पूर्ण जानने का स्वभाव है, वह केवलज्ञान है। वह ज्ञान असहाय है, अर्थात् किसी निमित्त की सहायता की उसे आवश्यकता नहीं है; अतीन्द्रिय है अर्थात् किसी इन्द्रिय और मन की आवश्यकता नहीं पड़ती; ऐसा स्वाभाविक ज्ञान, आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करके जिसने अखण्ड पूर्ण दशा प्रगट की, उसे होता है।

अब, विभावज्ञान के भेदों की व्याख्या करते हैं। विभावज्ञान के दो भेद हैं (१) सम्यक् (२) मिथ्या। उसमें सम्यक् ज्ञान के चार भेद हैं —मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय।

१— अपने आत्मा की ओर का ज्ञान, वह मतिज्ञान।

२— अपने में विशेष रहित अर्थात् राग-द्वेषरहित कुछ वेदन को जानने का ज्ञान, वह भावश्रुतज्ञान है—वह सच्चा ज्ञान है, जो विकल्प है, वह तो शब्दश्रुतज्ञान है।

३— अपने को जानते हुए स्वर्ग, नरक आदि परवस्तु अपने ज्ञान की मुख्यता रखकर ज्ञात होती है, वह अवधिज्ञान है।

४— अपने संयम की शुद्धि होने पर—अपने ज्ञान की विशेष निर्मलता होने पर अपने ज्ञान में परवस्तु ज्ञात होती है, वह मन:पर्ययज्ञान है। मात्र पर को जानना, वह मन:पर्ययज्ञान नहीं। आत्मा की स्थिरता द्वारा ज्ञान अन्दर उघड़ा है, इसलिए अन्दर उपयोग देता है, बाहर उपयोग लगाना नहीं पड़ता। अन्दर में निर्मलता उघड़ी है, इसलिए उपयोग लगाये वहाँ ही ज्ञान की निर्मलता में परवस्तु सहज ज्ञात होती है। ज्ञान की निर्मल शक्ति इतनी उघड़ी है कि स्व को जानते हुए पर ज्ञात हो जाता है। स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है। पहले 'स्व' आया, स्व में ज्ञान का विकास होने से पर ज्ञात हो जाता है। स्व में अपने कारण व्यापार होता है। उसमें पर ज्ञात हो जाता है, वह सम्यग्ज्ञान है।

'घर के लड़के चक्की चाटे, पड़ोसी को आटा' अर्थात् घर में लड़कों को खाने के लिये कुछ न हो, परन्तु उदार हो गया, इसलिए बाहर में सब दे दिया; उसी प्रकार अपने आत्मा की प्रजा अर्थात् गुण-पर्याय क्या है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं, इसलिए बाहर में परपदार्थ की परत करके अपना ज्ञान पर में दे दिया।

मन:पर्यय अर्थात् संयम की शुद्धि से ज्ञान की निर्मलता उघड़ी, उसमें एकाग्र होने पर दूसरे के मन की बात ज्ञात हुई, वह मन:पर्यय।

जहाँ ज्ञान की निर्मलता हो, वहाँ उपयोग एकाग्र होता है या जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ होता है? ज्ञान का उपयोग तो जहाँ ज्ञान की निर्मलता हो, वहाँ ही एकाग्र होगा, शास्त्र से-पर से (निमित्त से) लिया, इसलिए बाहर ज्ञात होता है, वह अवधि और वह मन:पर्यय-ऐसा व्यवहार से कहा है। परन्तु निश्चयस्वरूप ऐसा नहीं है क्योंकि जहाँ ज्ञान की निर्मलता उघड़ी हो, वहाँ ही उपयोग हो, इसलिए ज्ञान अन्दर ही होता है।

ज्ञान की निर्मलता ऐसी—अपने लक्ष्यवाली हुई कि अपनी सामर्थ्य शक्ति द्वारा उसमें पर ज्ञात ही हो जाते हैं। पहले ही आचार्य महाराज ने उपयोग की बात की है। उपयोग तो गुण के साथ सम्बन्ध रखता है—द्रव्य के साथ रखता है, परन्तु उपयोग का सम्बन्ध पर के साथ नहीं होता।

लोग मानते हैं कि 'मैंने आँख ऊँची की, इसलिए मेरे ज्ञान का व्यापार होता है।'

परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि आँख तो उसके कारण से ऊँची होती है और ज्ञान का व्यापार तो अन्दर होता है; उसमें (ज्ञान में) एकाग्र होता है, इसलिए दिखाई देता है।

ज्ञान अर्थात् आत्मा। उसे अज्ञानियों ने जड़ में ही खपाया है। लोग मानते हैं कि आँख ऊँची किये बिना ज्ञात नहीं होता, इसलिए ऊँची की, वहाँ ज्ञात हुआ, परन्तु ऐसा नहीं है। क्षेत्र से ऊँचा करने से ज्ञात नहीं होता, परन्तु भाव में एकाग्र होने से ज्ञान होता है।

आँख ऊँची करे, तब लाभ होगा या ज्ञान में एकाग्र होने से लाभ होगा? ज्ञान में एकाग्र होने से ही लाभ होता है। 'क्षेत्र बदले, तब ज्ञान होता है अथवा क्षेत्रान्तर होने से ज्ञान होता है', ऐसा नहीं है। क्योंकि कम क्षेत्रान्तर होने पर कम ज्ञान हो और अधिक होने पर अधिक ज्ञान हो, ऐसा नहीं होता, परन्तु जानना वह ज्ञान की क्रिया और ज्ञान के व्यापार प्रमाण होता है।

ज्ञान की पर्याय का ज्ञानगुण के साथ सम्बन्ध है या पर के साथ सम्बन्ध है? ज्ञानगुण के साथ ही सम्बन्ध है। जितना ज्ञान में एकाग्र हुआ, उतना ही लाभ है। बाहर में एकाग्र होऊँ तो लाभ हो, ऐसी बुद्धि भ्रम है। मति-श्रुत में भी आत्मा के साथ का सम्बन्ध है, आत्मा का सम्बन्ध जड़ के साथ नहीं होता। आत्मा का सच्चा ज्ञान जो मति-श्रुत है, वह व्यवहार से केवलज्ञान में साधक है, उसकी बात की।

अब आत्मा जब केवलज्ञान—अकेला उपाधिरहित निर्मल ज्ञान प्राप्त करता है, तब वह उपाधिरहित होता है। जितने केवलज्ञानी भगवान हुए, वे सब उपाधिरहित हैं, उस केवलज्ञान को कोई कर्म का ढक्कन नहीं है। अल्प ज्ञान में जो क्रम पड़ता है कि 'मैं ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ' ऐसा जो अल्प ज्ञात होता है, वह केवलज्ञान में क्रमरहित पूर्ण ज्ञात होता है, इसलिए एक के बाद एक जानने का स्वभाव नहीं, परन्तु अक्रमरूप से जानने का स्वभाव है; केवलज्ञान सामने पदार्थों में व्यापता नहीं, परन्तु अपने में व्यापनेवाला है।

भगवान केवलज्ञान पाते हैं, वह केवलज्ञान परपदार्थों में व्यापता नहीं परन्तु आत्मा की पूर्ण दशा होने पर, उसमें राग-द्वेष, पुण्य-पाप कुछ नहीं रहने से पूर्ण स्वभाव

अपने में व्यापक हो गया है। केवलज्ञानी तीन काल-तीन लोक के पदार्थों को आवरण बिना, सहायता बिना, इन्द्रिय बिना प्रत्येक पदार्थ को एक साथ जानते हैं।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। उसके जोर से पुण्य-पाप का सर्वथा नाश होकर जो अवस्था प्रगट होती है, वह केवलज्ञान है। वह केवलज्ञान भी ज्ञानगुण का उपयोग है, परिणाम है, व्यापार है; त्रिकाली शक्ति नहीं। केवलज्ञान—आत्मा का पूर्ण ज्ञान जो इन्द्रिय और मन बिना प्रत्यक्ष जानता है, वह कार्यस्वभाव ज्ञान है। जो केवलज्ञान उघड़ा, वही कार्य है। संसार का कार्य, वह भटकने का कार्य है। ज्ञान में दृढ़ होने पर आत्मा की केवलज्ञान दशा प्रगटी, वह आत्मा का कार्य है।

अब कार्यज्ञान का कारणज्ञान के साथ सम्बन्ध बतलाते हैं—अकेला इन्द्रिय बिना का, राग बिना का ज्ञान जो उघड़ा, वह कार्य ज्ञान, वह केवलज्ञान; जिसमें कार्य ज्ञान उघड़ने की शक्ति पड़ी है, वह कारणज्ञानरूप पर्याय भी वैसी है। क्योंकि कारणरूप अवस्था, वह कायम है। ज्ञान में कारणरूप ज्ञान एक शक्ति पड़ी है, वह भी कार्य ज्ञान जैसी है, ऐसा यहाँ अभेद रीति से बताते हैं।

यहाँ निर्मल केवलज्ञान जो कार्य उघड़ा, उसका कारण जो कारणरूप ज्ञान, वह भी कार्यज्ञान जैसा है, ऐसा अभेद बतलाने के लिये वर्णन करते हैं। जैसे कार्यज्ञान जो केवलज्ञान, वह सादि-अनन्त अनन्त चतुष्टय को भोगनेवाला और आनन्ददाता है, उसी प्रकार कारणज्ञान एकरूप-ध्रुवरूप ज्ञान अनादि-अनन्त आनन्ददाता है। कार्य ज्ञान जैसा आनन्ददाता है, वैसा कारणज्ञान भी सदा—अनादि-अनन्त आनन्ददाता है।

आहा! टीका में कितना सरस वर्णन आचार्य भगवान ने किया है।

यहाँ तो केवलज्ञान के कारणरूप एकरूप ध्रुव त्रिकाली कारणज्ञानरूप पर्याय है, वह समझायी है। स्वाभाविक दर्शन-स्वाभाविक ज्ञान-स्वाभाविक चारित्र और स्वाभाविक आनन्द, वह अनन्त चतुष्टयमय कारणसमयसार शक्तिरूप है, उसका एक समय में अनुभव करने को वह कारणपर्याय समर्थ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि :—

केवलज्ञान होता है, तब अनन्त चतुष्टय ज्ञात हो, उसमें तो क्या आश्चर्य! परन्तु

केवलज्ञान के कारणरूप जो ध्रुवशक्ति है, उसमें भी अनन्त चतुष्टय को एक समय में जानने की शक्ति पड़ी है, वह भी समर्थ है। इसलिए केवलज्ञान जैसी वह शक्ति भी ध्रुव आनन्द की दाता है। एक समय में वह ध्रुव आनन्द-आदि का त्रिकाल दाता है-तो भी अनुभव कार्य पर्याय का है, कार्यपर्याय के आनन्द का अनुभव कारण पर्याय में से आता है, इसलिए कारणपर्याय, वही आनन्द देने में ध्रुव-समर्थ है।

'केवलज्ञान हो, तब ज्ञात हो, उसमें तो क्या आश्चर्य! परन्तु पारिणामिकस्वभावभाव वह सामान्य और उसका सामान्यरूप विशेष, वह दोनों होकर द्रव्य, वह सामान्य; उसका विशेष-उसमें भी सहज आनन्द आदि को जानने का सामर्थ्य है, वह आनन्द का दाता है—वह कारणपर्याय है, यह विशेष सूक्ष्म है।

वस्तु जो आत्मा है, वह गुण से भरपूर पिण्ड है। गुण कायम है, गुण की अवस्था नयी प्रगट होती है और पुरानी टले-वह नहीं, परन्तु यहाँ तो गुण की एकरूप ध्रुव अवस्था, उसमें अनन्त चतुष्टय को जानने का सामर्थ्य है, ऐसा बताया है। वह सुख, आनन्द आदि को जानने का अप्रगट पर्याय में सामर्थ्य है और उसी पर्याय में से प्रगट पर्याय आती है। कारणरूप पर्याय का भोग नहीं है। वह ध्रुव है, उसका भोग नहीं होता, परन्तु कार्यरूप पर्याय का भोग है। उस कारणरूप पर्याय में अनन्त चतुष्टय को युगपत् जानने की ध्रुव एकरूप शक्ति पड़ी है।

वस्तु, गुण त्रिकाल और उसकी वर्तमान अवस्था—ध्रुवपर्याय, उसमें अनन्त चतुष्टय को युगपत् जानने का सामर्थ्य है।

कार्य में-केवलज्ञान में तो अनन्त चतुष्टय ज्ञात होता है, इसलिए तू कार्य को महिमा देता है, परन्तु वास्तविक महिमा कार्य की नहीं, कारण की ही महिमा है। तू कार्य की महिमा करता है, वह तो पर्याय की ही महिमा है, त्रिकाल की महिमा नहीं। तुझे यदि कारणरूप पर्याय की महिमा आवे तो उस महिमा के जोर से कार्यरूप पर्याय उघड़ती है, ऐसा आत्मा में परमस्वभाव-त्रिकाल स्वभाव भरा है।

आत्मा का धर्म आत्मा में भरा है, अन्यत्र कहीं नहीं। यहाँ केवलज्ञान उघड़ता है, उसका माहात्म्य नहीं, परन्तु केवलज्ञान उघड़ता है, उसके कारणरूप जो द्रव्य त्रिकाल

है, उसका माहात्म्य है। वह तो कारणरूप उपयोग परमात्मरूप से स्थित पड़ा है, उसकी बात है। यदि यह पर्याय न हो तो वस्तु सिद्ध नहीं होती और यह पर्याय प्रगट हो तो संसार-मोक्ष सिद्ध नहीं होता। वस्तु है, उसका विशेष युगपत्—एक साथ सबको जाने, वैसा शक्तिरूप न हो तो वस्तु क्या? और वह प्रगट हो तो संसार-मोक्ष क्या? इसलिए दोनों प्रकार से न मानने में आवे तो बाधा आती है।

सहज दर्शन, सहज ज्ञान, सहज चारित्र और सहज सुख, यह अनन्त चतुष्टय है, जिसे जाननेवाला केवलज्ञान, वह आनन्ददाता है, परन्तु उस केवलज्ञान के कारणरूप शुद्धज्ञान सहज परमशक्ति, वह भी सहज चतुष्टय को जानने को समर्थ अनादि-अनन्त आनन्ददाता है।

पद्मप्रभमलधारिदेव ने गजब की टीका करके इतनी बात स्पष्ट की है!!!

केवलज्ञान आनन्ददाता है, वह तो पर्याय की महिमा है, परन्तु ध्रुवरूप त्रिकाल एकरूप सहज आनन्द जो कारणरूप शक्ति पड़ी है, वह द्रव्यदृष्टि का विषय है, उसमें से ही कार्यरूप पर्याय आती है।

आत्मा का बहुत माहात्म्य प्रथम तो क्या आवे! प्रथम तो 'आत्मा क्या, उसके गुण क्या?' ऐसा आवे; आत्मा वर्तमान भी ऐसा का ऐसा है, ऐसा माहात्म्य आये बिना कार्यरूप पर्याय प्रगट नहीं होती। तेरा वर्तमान किसी समय अधूरा नहीं है, इसलिए उसके ऊपर जोर दे तो तुझे काल अवरोधक नहीं, कर्म अवरोधक नहीं, ऐसा वह वर्तमान पूरा पड़ा है। वह वर्तमान परिपूर्ण अनादि-अनन्त है, किसी समय पूर्ण नहीं—ऐसा नहीं है। वर्तमान जिस समय लो, उस प्रत्येक समय ध्रुवरूप पर्याय परिपूर्ण होती है, उस एक समय की परिपूर्ण पर्याय में से एक ही समय की (उत्पादरूप) प्रगट पर्याय आती है।

एक समय में वर्तमानरूप से परिपूर्ण शक्ति पड़ी है, इसलिए प्रगट में परिपूर्ण निकालने के लिये वर्तमान परिपूर्ण नहीं, ऐसा नहीं है। एक ही समय में परिपूर्ण है, दूसरे समय का दूसरे समय में परिपूर्ण है।

द्रव्य-गुण की त्रिकाली शक्ति पड़ी है, उसके साथ वर्तमान शक्ति पड़ी है, वह

भी पर्यायरूप शक्ति है। अकेली वस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय से कूटस्थ पड़ी है; मोक्षमार्ग तो अपेक्षावाली पर्याय है। ज्ञान में मति-श्रुतादि के आठ प्रकार पड़ते हैं, उस ज्ञान की पर्याय की बात यहाँ नहीं लेना, परन्तु ज्ञान की एक पर्याय ऐसी है कि उसमें कोई भी प्रकार ही नहीं है, भेद ही नहीं है, एकरूप 'ध्रुव-वर्तमान' पूरी-पूरी है, ऐसी ज्ञानगुण की पर्याय-उसकी बात लेनी है। वह वर्तमानपर्याय ऐसी है कि वह सुख आदि अनन्त चतुष्टय को जानने का सामर्थ्य धराती है, उस शक्ति में से कार्यरूप पर्याय आती है।

सब गुणों की शक्ति को द्रव्य की शक्ति कहा जाता है, उसकी बात यहाँ नहीं लेना। परन्तु ज्ञान के वर्तमान उपयोग के भेदों की बात है।

★★★★★

व्याख्यान नं. ११, दिनांक ३०-४-१९४४, रविवार

गाथा ११-१२ चालू।

यहाँ शुद्धाशुद्ध ज्ञानस्वरूप के प्रकार कहते हैं। आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप अन्तर अभेद है, उसका भान, वही धर्म है। जिसे आत्मा की पहिचान नहीं, वह आत्मा के स्वभाव के साथ सम्बन्ध कैसे करेगा? आत्मा ज्ञानस्वभावी है, जानने में मन और इन्द्रियाँ जहाँ निमित्त है, वह मतिज्ञान; उसके बहुत प्रकार हैं।

ज्ञान के मति आदि पाँच प्रकार हैं; उसमें मतिज्ञान के बहुत प्रकार हैं। आत्मा में ज्ञानगुण है, उसकी मतिज्ञान पर्याय है, आत्मा की अवस्था जो 'मैं ज्ञान हूँ, राग-द्वेष-पुण्य-पाप, वह मैं नहीं' यह मतिज्ञान, इसके तीन प्रकार हैं। १— लब्धि, २— भावना, ३— उपयोग (-जुड़ान)।

मतिज्ञानावरणीय के उघाड़ से पुरुषार्थ द्वारा जो ज्ञान उघड़ा है, उसे लब्धि, उपलब्धि या प्राप्ति कहा जाता है। आत्मा में केवलज्ञान होता है, वह मतिज्ञान द्वारा ही होता है। उस मतिज्ञान के तीन प्रकार—लब्धि, भावना और उपयोग।

मन और इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, परन्तु आत्मा में मति का उघाड़, वह लब्धि; आत्मा की ओर के झुकाववाला ज्ञान अर्थात् कि 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसी भावना, वह भावना और जुड़ान अर्थात् अन्दर आत्मा के झुकाव की ओर के भाव में जुड़ना, वह उपयोग।

आत्मा की ओर ढलता मतिज्ञान का उघाड़, वह मति; उसकी भावना होने पर लब्धि बढ़ती जाती है और फिर उसकी ओर उसका जुड़ान होता है, वह उपयोग।

अथवा मतिज्ञान के चार प्रकार हैं; तथा मतिज्ञान है वह बहुत प्रकार को जानता है; उसमें बहु, बहुविध आदि बारह भेद हैं। इस प्रकार उघाड़ आदि तीन भेद, अवग्रह आदि चार भेद, बहु-बहुविध आदि बारह भेद और विस्तार से ३३६ भेद हैं।

मतिज्ञान, वह आत्मा का है, परन्तु उघाड़ कम है, इसलिए क्रम पड़ता है। मतिज्ञान, वह दर्शनपूर्वक होता है। दर्शन अर्थात् क्या? दर्शन अर्थात् मतिज्ञान होने से

पहले आत्मा में व्यापार हो, उसे दर्शन कहते हैं; बाहर में देखने की बात नहीं है। ज्ञान-दर्शन दोनों अन्दर में ही होते हैं, यह शरीरादि पर को जानने से पहले उनकी ओर का आत्मा का उपयोग, वह दर्शनोपयोग है।

शरीरादि जड़ को जानने से पहले का 'आत्मा का व्यापार' अर्थात् दूसरी चीज़ का ज्ञान हो, उससे पहले का चैतन्य का व्यापार, वह दर्शन है। मतिज्ञान हो, उससे पहले आत्मा का जो व्यापार, वह दर्शन। आत्मा का व्यापार होने के पश्चात् विशेष ज्ञान का होना, वह अर्थावग्रह। विशेष जानने से पहले आत्मा में अव्यक्त बोध शुरु हो, वह व्यंजनावग्रह। यह बहुत सूक्ष्म बात है, ध्यान रखे तो समझ सके, ऐसी बात है, परन्तु जिसने सुनी नहीं हो, उसके लिये कठिन है।

आत्मा में दर्शन होने के पश्चात् व्यंजनावग्रह होता है; सामने मनुष्य बोलता है, उस शब्द के परिणमन का आत्मा में अव्यक्त बोध होने लगे, वह व्यंजनावग्रह। व्यंजनावग्रह, वह उपयोग है, वह लब्धि का भेद नहीं है। व्यंजनावग्रह अर्थावग्रह, वह उपयोगरूप ज्ञान है। लब्ध, वह तो अन्दर उघाड़ है, वह सब ज्ञान का उपयोग-व्यापार है। केवलज्ञान जैसे पर के आश्रय से नहीं होता, उसी प्रकार व्यंजनावग्रह पर के आश्रय से नहीं होता। इसलिए यह तो केवलज्ञान कक्का है। विशेष ज्ञान हो तो अर्थावग्रह हो जाता है।

व्यंजनावग्रह का व्यापार आत्मा में ही होता है, परपदार्थ के ऊपर लक्ष्य करने से नहीं होता। उसका व्यापार तो सहज होता है। यहाँ तो आत्मा में पर का निमित्त ही नहीं, ऐसा साबित हुआ।

शब्द-रूप आदि व्यक्तरूप से जानने से पहले आत्मा का जो ज्ञान उपयोग शुरु होता है, वह व्यंजनावग्रह है। सामने चीज़ हो, इससे यहाँ व्यापार होता है, ऐसा नहीं है, परन्तु दोनों एक साथ होते हैं। शब्द, रूप, रस, गन्ध को व्यक्तरूप से जानने से पहले आत्मा के ज्ञान का व्यापार आत्मा में शुरु होता है, वह व्यंजनावग्रह है, वही आत्मा की स्वतन्त्रता प्रसिद्ध करता है। मतिज्ञान का उपयोग स्वतन्त्ररूप से आत्मा से होता है। अर्थावग्रह में सामने चीज़ का व्यक्त ज्ञान होता है, परन्तु ज्ञान का उपयोग उसे व्यक्तरूप से जानने के पहले शुरु हो गया है, उस उपयोग को व्यंजनावग्रह कहा जाता है।

आत्मा का भेदरहित सामान्य चैतन्य व्यापार, वह दर्शनोपयोग है। दर्शन उपयोग आत्मा को अभेदरूप ग्रहण करता है, इसलिए उसमें पदार्थ का बोध नहीं आया परन्तु आत्मा का ही निराकार चैतन्य व्यापार आया। 'सब पदार्थ हैं' ऐसा दर्शन नहीं जानता, परन्तु ज्ञान जानता है। मैं आत्मा हूँ और यह परपदार्थ हैं, ऐसा जाना, वह विशेषज्ञान हुआ है।

यहाँ तो आत्मा के दर्शन और ज्ञान उपयोग में स्वतन्त्रता ही प्रसिद्ध की है। परपदार्थ ज्ञान में ज्ञात होते हैं परन्तु उससे तेरा उपयोग प्रगट नहीं होता। जितना उघाड़ है, उतना उपयोग तेरे ज्ञान से होता है। 'यह रूप है, यह गन्ध है' यह आदि जाननेरूप आत्मा का विशेष व्यापार, वह अर्थावग्रह है और 'यह रूप है' यह आदि प्रगटरूप जानने के पहले आत्मा का ज्ञानोपयोग शुरु होना, वह व्यंजनावग्रह है। वह व्यंजनावग्रह होने से पहले दर्शन का व्यापार होता है। दर्शन परपदार्थ को विषय नहीं करता, दर्शन का विषय महासत्ता है, अकेला सामान्यरूप आत्मा, वही महासत्ता है। 'यह सब परपदार्थ हैं और मैं आत्मा हूँ' ऐसा जानना, वह ज्ञान है। आत्मा सत्ता है, उसका किसी पदार्थ के बोध से खाली व्यापार, वह दर्शन उपयोग है।

यह दर्शन उपयोग तथा व्यंजन अवग्रह और अर्थावग्रह तो अज्ञानी और ज्ञानी दोनों को निचलीदशा में हो ही रहे हैं। केवली की यह बात नहीं है, उन्हें तो पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान है, उनके उपयोग में अवग्रहादि भेद नहीं होते तथा दर्शन-ज्ञानोपयोग भी उनके एक साथ ही होते हैं।

शब्द तो ज्ञेय-परवस्तु है, वे शब्द कान में पड़ने से व्यंजनावग्रह शुरु नहीं होता परन्तु मतिज्ञान की जो शक्ति (उघाड़) है, वही उपयोगरूप अव्यक्तरूप से शुरु होती है, वह व्यंजनावग्रह है। वह व्यंजनावग्रह पश्चात् शब्द इत्यादि का जो विशेष ज्ञान (व्यक्त ज्ञान) होता है, वह अर्थावग्रह है। इन दोनों में ज्ञान का व्यापार अन्दर से शुरु होता है, सामने परवस्तु उपस्थित होती है परन्तु उससे ज्ञान नहीं होता। एक अंश से लेकर पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान तक सब ज्ञान स्वतन्त्र है। पर के साथ ज्ञान का सम्बन्ध कहना, वह तो उपचार से कथन है अर्थात् इन्द्रिय और मन द्वारा ज्ञान होता है—ऐसा कहना, वह

निमित्त का कथन है। वास्तव में ज्ञान स्वयं उपयोगरूप होने लगा है। इस सम्बन्ध में *श्री जयधवलाजी शास्त्र में ऐसे आशय से कहा है कि—इन्द्रिय और मन से ज्ञान नहीं होता, क्योंकि आत्मा का सामान्य ज्ञान त्रिकाल है, वह सामान्य, विशेष बिना नहीं होता। ज्ञान का विशेष, वह सामान्य ज्ञान के ही परिणमन से हुआ है। यदि वह विशेषज्ञान न हो तो सामान्यज्ञान भी नहीं होगा। सामान्य के ही परिणमन से विशेष होता है, इसलिए ज्ञान स्वतन्त्र है, उसमें कोई इन्द्रियाँ या मन की सहायता नहीं है। जो विशेषज्ञान (उपयोगरूप ज्ञान) होता है, वह इन्द्रियों से नहीं होता, क्योंकि यदि विशेषज्ञान इन्द्रियों से हो तो उस समय सामान्यज्ञान का विशेष नहीं रहा, परन्तु सामान्य कभी विशेष बिना नहीं होता; इसलिए सामान्य और विशेष होकर जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान से ही विशेष ज्ञान होता है। इन्द्रियाँ या मन से ज्ञान नहीं होता। परोक्ष ज्ञान में इन्द्रियाँ तथा मन का अवलम्बन कहा है, वह तो मात्र ज्ञान करते समय उनकी उपस्थिति होती है, यह बतलाने को कहा है। परन्तु उससे वास्तव में ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के उपयोग में जो अवग्रहादि खण्ड पड़ते हैं, वे स्वयं के कारण से हैं तथा पूर्ण ज्ञान अखण्ड है, वह भी अपने ही कारण से है, परवस्तु के कारण से ज्ञान में खण्ड नहीं पड़ते।

केवलज्ञान अखण्ड है, इसलिए उसका कारण भी अखण्ड होगा। मति-श्रुत को केवलज्ञान का कारण व्यवहार से कहा जाता है। जिस मति-श्रुतज्ञान ने अपने स्वभाव का निश्चय किया, वह ज्ञान अखण्ड है परन्तु वह अपूर्ण है, वह 'अखण्ड अपूर्ण ज्ञान' व्यवहार से केवलज्ञान का कारण है, निश्चयकारण तो अखण्ड वस्तु है। अखण्ड वस्तु के आधार से केवलज्ञान पर्याय प्रगट होती है। जो ज्ञान आत्मस्वभाव की ओर ढला है, वह ज्ञान आत्मा के साथ अभेद हुआ होने से अखण्ड है। स्वसन्मुख ढला हुआ, आंशिक अखण्ड ज्ञान, वह पूर्ण अखण्ड केवलज्ञान का कारण है, परन्तु वह अपूर्ण है; इसलिए वह व्यवहार कारण है, परमार्थ कारण तो त्रिकाल अखण्ड आत्मद्रव्य है।

प्रथम अखण्ड ज्ञान का अंश प्रगट होने के पश्चात् पूर्ण अखण्ड ज्ञान प्रगट होता

---

* श्री जयधवला के इस विषय पर व्याख्यान हो गया है, उसमें अत्यन्त सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। इस हेतु देखो आत्मधर्म मासिक अंक २१ का श्रुतपंचमी विशेष। (आत्मधर्म के उस अंक की सर्व साधारण को अनुपलब्धता देखते हुए यह प्रवचन इसी ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्टरूप से दिया गया है।)

है। अखण्ड का अंश, वह भी पूर्ण अखण्ड की अपेक्षा से खण्ड है। यद्यपि वह खण्ड है, तथापि जितना है, उतना राग बिना का है; इसलिए अखण्ड है। और वह केवलज्ञान का साधक है। मति-श्रुतज्ञान यदि अखण्ड स्वभावसन्मुख झुके तो वह केवलज्ञान के साधक हों, परन्तु यदि मति-श्रुतज्ञान अपनी ओर जरा भी न झुके तो वे केवलज्ञान के साधक नहीं होते। जो ज्ञान अपनी ओर झुका, वह केवलज्ञान का व्यवहार से साधक है और जो ज्ञान राग में या पर में अटकता है, वह खण्डित होता ज्ञान साधक नहीं होता। निश्चय से तो द्रव्य ही केवलज्ञान का कारण है; अपूर्ण ज्ञान उस पूर्ण का कारण परमार्थ से नहीं है। पूर्ण का कारण तो पूर्ण ही होता है, परन्तु सद्भूतव्यवहारनय से मति-श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का कारण कहा जाता है।

अनादि काल से वस्तु के सच्चे स्वरूप की खबर नहीं, उसकी अवस्था क्या, यह जाना नहीं और विकारी अवस्था को अपना स्वरूप मानकर जीव अनादि से संसार में भटकता है। यदि अपने स्वरूप की सच्ची समझ करे तो संसार का अन्त आवे। यह तत्त्व जिसने सुना नहीं, उसे कठिन लगता है परन्तु यह बात बहुत प्रकार से स्पष्ट आयी है, इसलिए जो समझना चाहे, वह समझ सके, ऐसा है। अपने स्वरूप की बात है, वह स्वयं अवश्य समझ सकता है।

दर्शन उपयोग में अकेला आत्मव्यापार है, दर्शन उपयोग के पश्चात् परपदार्थ के प्रगट ज्ञान बिना का आत्मा में ज्ञान का उपयोगरूप व्यापार, वह व्यंजनावग्रह है। व्यंजनावग्रह, वह विशेष ज्ञान है, दर्शन उससे अलग है। दर्शन तो निराकार है और ज्ञान साकार है; निराकार अर्थात् परपदार्थ के बोधरहित, सामान्य। साकार का अर्थ पर का आकार नहीं परन्तु ज्ञान में विशेषरूप बोध होना, अर्थात् स्व-पर का ज्ञान होना, ऐसा साकार का अर्थ है। 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा जाननेवाला ज्ञान ही है, ज्ञान साकार है। जब व्यक्तरूप से जाने, तब ज्ञान में अर्थावग्रह होता है और व्यक्तरूप से जानने से पहले आत्मा में ज्ञान का जो व्यापार शुरु होता है, वह व्यंजनावग्रह है। व्यंजनावग्रह में चक्षु और मन का विषय नहीं है अर्थात् चक्षु और मन द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता।

आत्मा अपने से त्रिकाल एकरूप है, निगोद में भी अपने स्वभाव से एकरूप था।

अज्ञानदशा में जीव स्वयं से ही अपने स्वभाव को भूलकर परिणमता है और ज्ञानदशा में भी अपने से ही अपने स्वभाव को पहिचानकर परिणमता है। 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, पर का मैं कर्ता हूँ' इत्यादि उल्टी मान्यता से जीव अज्ञानरूप परिणमता है और 'मैं त्रिकाल पूर्ण ज्ञानस्वभावी हूँ, मेरे ज्ञानस्वभाव में राग-द्वेष नहीं, मेरे ज्ञान में पर की सहायता नहीं', ऐसी सच्ची मान्यता से जीव ज्ञानरूप परिणमता है।

ज्ञान की निर्मल पर्याय में परपदार्थ ज्ञात होते हैं परन्तु परपदार्थ ज्ञान में झलकता नहीं। आत्मा का ज्ञानस्वभाव ही स्व-पर को जाननेवाला है, इसलिए वह परवस्तु को जानता है। चाहे जितनी और चाहे जैसी वस्तु हो तो भी उसे जान ले, ऐसा ज्ञान का सामर्थ्य है। ज्ञान तो असंख्य प्रदेशी अरूपी आकार है। उसमें किसी परपदार्थ का आकार नहीं पड़ता।

दर्शनोपयोग के पश्चात् ज्ञानोपयोग शुरु होता है। प्रथम जो ज्ञान बहुत निर्बल होने से पदार्थ को जान नहीं सकता, उस ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहा जाता है, वह ज्ञान इतना अधिक निर्बल है कि तत्पश्चात् तुरन्त ही ईहा-अवाय या धारणा नहीं हो सकता। अर्थावग्रह के पश्चात् विशेषज्ञान होने से ईह-अवाय-धारणा होता है। अर्थावग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ का विशेष ज्ञान होने के लिये उस ओर के झुकाववाला ज्ञान का उपयोग, वह 'ईहा' है। ईहा कोई परपदार्थ की नहीं होती, परन्तु ज्ञान की ही होती है। अपने ज्ञान में एकाग्रता करके वस्तु की ओर का जो उपयोग किया, वह ईहाज्ञान है। 'स्तम्भ का अवग्रह हुआ या स्तम्भ की ईहा हुई' वह तो कथन के लिये संक्षिप्त भाषा है, परमार्थ से स्तम्भ के अवग्रह या ईहा होते नहीं, परन्तु ज्ञान की ही अवग्रह या ईहारूप पर्याय है। इस प्रकार परमार्थस्वरूप जो समझे नहीं, वह शास्त्र में व्यवहारनय के कथन हों, उसके अर्थ न समझने से भाषा के शब्दों की पकड़ करके घोटाला उठाता है।

अवग्रह-ईहा वह ज्ञान की पर्याय है या जड़ की? वह ज्ञान की ही पर्याय है, इसलिए ज्ञान में ही अवग्रह-ईहा होते हैं। स्तम्भ तो जड़ है, उसके अवग्रह-ईहा परमार्थ से नहीं होते। परपदार्थ सम्बन्धी अपने ज्ञान में आत्मा विचार करता है, इसलिए परपदार्थ का विचार करता है, ऐसा निमित्त से कहा है। परन्तु वास्तविक रीति से विचार का

सम्बन्ध अपने ज्ञान के साथ है, ज्ञान द्वारा ही जीव विचार करता है, इसलिए विचार, वह ज्ञान की पर्याय ही है, परपदार्थ का विचार नहीं।

ज्ञान में जो योग्यतारूप उघाड़ है, उतना उपयोग ज्ञान में एकाग्र होकर जानता है, परन्तु निमित्त से (व्यवहार से) बोला जाता है कि परपदार्थ को जानता है। परपदार्थ तो उसके कारण से उपस्थित होते हैं परन्तु जीव का लक्ष्य उस ओर जाता है, वहाँ अज्ञानी को अपनी निमित्ताधीन दृष्टि के कारण भ्रम होता है, इसलिए दूसरी उपस्थित रही हुई वस्तु से मुझे ज्ञान हुआ, ऐसा वह मानता है। परन्तु ज्ञान की उघाड़ शक्ति अनुसार जीव को ज्ञान होता है, ऐसी उसे अपने ज्ञानस्वभाव की खबर नहीं है।

ईहा द्वारा हुए ज्ञान का अपने में निर्णय होना, वह अवाय है और उस ज्ञान को कालान्तर में भूलना नहीं, वह धारणा है। यह सब ज्ञान के ही उपयोग हैं। पहले व्यंजनावग्रह होता है, पश्चात् अर्थावग्रह, पश्चात् विशेष विचार करना, वह ईहा; पश्चात् निश्चय होना, वह अवाय और धार रखना, वह धारणा है—यह सब मतिज्ञान के उपयोग के भेद हैं।

मतिज्ञान के पश्चात् पदार्थान्तर (अन्य पदार्थ सम्बन्धी) विशेष बोध होना, वह श्रुतज्ञान है, उसके तीन भेद हैं। १— लब्धि, २— भावना, और ३— उपयोग। पुरुषार्थ द्वारा ज्ञान की जो उघाड़ शक्ति, वह लब्धि; और उपयोग का जुड़ान, वह भावना और ज्ञान का प्रगट व्यापार, वह उपयोग है। जिस प्रकार पंचास्तिकाय में श्रुतज्ञान के तीन भेद लिये हैं, इस प्रकार श्रुतज्ञान के प्रकार संक्षेप में कहे।

ज्ञानगुण अखण्ड है, उसमें से प्रत्येक समय एक पर्याय आती है। ज्ञान का स्वभाव अखण्ड है, इसलिए परिपूर्ण और रागरहित जानने का स्वभाव है। सामने ज्ञेयपदार्थ भी खण्डरूप नहीं, एक समय में अखण्ड है और उसे जाननेवाली ज्ञान की शक्ति भी अखण्ड है। केवलज्ञान अखण्ड है, वह भिन्न-भिन्न अनन्त पदार्थों को जानता है तो भी खण्डरूप या रागरूप नहीं होता। ज्ञान का स्वभाव विशेष—सविकल्प है। ज्ञान एक समय में अखण्ड द्रव्य, अनन्त गुण और अनन्त पर्यायों को जानता है, इसलिए उसे विशेष कहा जाता है, परन्तु इससे ज्ञान के अनन्त टुकड़े नहीं होते। ज्ञान

पर को जानता है, यह कथन निमित्त से है। रागरहित होने से केवलज्ञान पूर्ण है। ज्ञान का स्वभाव एक समय में अनन्त को जानने का है, स्वयं एकरूप रहकर ही अनन्त को जानता है। मति-श्रुत आदि क्षयोपशमज्ञान में उघाड़ कम है, इसलिए जानने में भेद (क्रम) पड़ता है। परन्तु इससे ज्ञान में टुकड़े नहीं पड़ते। जितना है, उतना ज्ञान अखण्ड है।

यह धर्म समझने के लिये कहा जाता है। धर्म अर्थात् ज्ञान में आराधकभाव। ज्ञान का अपनी ओर का एकाग्रपना, वह आराधकभाव है। पंच महाव्रत का विकल्प, वह आराधकपना नहीं है, क्योंकि वह राग है। ज्ञानस्वभाव के भान बिना सच्चा आराधकपना नहीं होता। ज्ञान के भान बिना आराधकपना कहाँ करे? जैसे जमीन बिना वृक्ष नहीं उगता; उसी प्रकार आत्मा के भान बिना आराधकभाव अर्थात् कि धर्म होता ही नहीं, इसलिए पहले ज्ञानस्वभाव द्वारा आत्मा को पहिचानना चाहिए।

इन गाथाओं में ज्ञान के उपयोग के भेदों का वर्णन चलता है। केवलज्ञान पूर्ण होने से उसे स्वभावज्ञानरूप से प्रथम वर्णन किया है। अपूर्ण ज्ञान के सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद किये और उसमें सम्यग्ज्ञान के चार भेद तथा मिथ्याज्ञान के तीन भेद कहे, उसमें से सम्यग्ज्ञान के मति और श्रुत दो भेदों का वर्णन पूरा हुआ। अब अवधि और मन:पर्यय की व्याख्या करते हैं।

अवधिज्ञान—मन और इन्द्रिय के निमित्त बिना रूपी परपदार्थ को जानने का ज्ञान का जो उघाड़, वह अवधिज्ञान है; उसके तीन प्रकार हैं। देशावधि, सर्वावधि और परमावधि।

मन:पर्ययज्ञान—इन्द्रिय और मन के निमित्त बिना जो सामनेवाले के मन की बात जाने, वह मन:पर्यय है; उसके दो प्रकार हैं। ऋजुमति और विपुलमति।

प्रथम, मति और श्रुतज्ञान जो कि आत्मा की शुद्धपर्याय है, उसका स्वरूप बताया, उसके बिना किसी को व्रत-प्रत्याख्यान नहीं होते। तत्पश्चात् अवधि और मन:पर्ययज्ञान का स्वरूप कहा। वह ज्ञान किन्हीं सम्यग्दृष्टियों को होता है और किसी को नहीं भी होता। सर्वावधि और परमावधि तथा मन:पर्ययज्ञान तो मुनि को ही होता है,

निचलीदशा में नहीं होता। जब तीर्थंकर होनेवाला जीव माता के गर्भ में आता है, तब वह देशावधि ज्ञानसहित ही होता है।

यह जो मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय, ये चार सम्यग्ज्ञान कहे, वह आत्मा की भावनावाले सम्यग्दृष्टि जीवों को ही होते हैं, उसमें मति और श्रुत तो सभी सम्यग्दृष्टियों को होते हैं, आत्मा के भान बिना के मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्ज्ञान नहीं होता परन्तु उसे मिथ्याज्ञान अर्थात् कुज्ञान होते हैं, उसके कुमति, कुश्रुत और कुअवधि अर्थात् विभंग अवधि-ऐसे तीन भेद हैं।

★★★★★

व्याख्यान नं. १२, दिनांक ०१-०५-१९४४, सोमवार

(गाथा ११-१२ चालू।)

आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, ज्ञान का वर्णन चलता है। ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसे शरीरादि कोई परपदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं है। पुण्य-पाप के विकारभाव हों, उसे मात्र जानने का आत्मा का धर्म है। 'आत्मा में पुण्य-पाप हों, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो शुद्ध पवित्र ज्ञाता हूँ'—ऐसा जो सच्चा ज्ञान होता है, उसके चार प्रकार हैं—मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय। (इन चार ज्ञान को 'शुद्धाशुद्ध' ज्ञान के भेदोंरूप से गिना है, केवलज्ञान सम्पूर्ण प्रत्यक्ष शुद्धज्ञान है, इसलिए उसे इन चार भेदों के साथ नहीं लिया है।) 'पुण्य-पाप, वही मैं हूँ'—ऐसी उल्टी मान्यतावाले कुज्ञान के तीन भेद हैं-कुमति, कुश्रुत और विभंग अवधि।

ज्ञान का वर्णन करते हुए आचार्यदेव प्रथम सामान्यज्ञान को कहकर फिर विशेष अवस्था का वर्णन करेंगे। सहजज्ञान, वह स्वरूपप्रत्यक्ष और केवलज्ञान, वह सम्पूर्णप्रत्यक्ष, इन दोनों को स्वभावज्ञानरूप से कहेंगे। आचार्यदेव की घटना बहुत गहरी है, अन्तर की ही बात रखी है। त्रिकाल एकरूप स्वरूपप्रत्यक्ष सामान्य की बात बहुत सुन्दर रीति से की है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष, अवधि-मन:पर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष और मति-श्रुतज्ञान निश्चय से परोक्ष और व्यवहार से प्रत्यक्ष, ऐसा वर्णन करेंगे। ज्ञान उपयोग की कुल आठ अवस्थायें, उनमें आत्मा के भान के पश्चात् केवलज्ञान, वह पूर्ण दशा, मति आदि चार अपूर्ण दशा है और अज्ञानी को कुमति आदि तीन उल्टी दशा है। इस प्रकार आत्मा त्रिकाल वस्तु है, उसका ज्ञानगुण त्रिकाल है और उसकी पाँच सम्यग्ज्ञानरूप तथा तीन मिथ्याज्ञानरूप अवस्था है, यह कथन किया।

अब स्वरूपप्रत्यक्ष सामान्यज्ञान की बात करते हैं

आत्मस्वरूप का ज्ञान सहज त्रिकाली अन्तरंग तत्त्व वह अपने में व्यापक त्रिकाल स्वरूपप्रत्यक्ष है। यह स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान त्रिकाल तत्त्वरूप व्यापक त्रिकाल एकरूप ध्रुव है। केवलज्ञान सादि-अनन्त, अपेक्षावाली पर्याय है, वह त्रिकाली व्यापक नहीं, परन्तु

स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान अन्तरंग तत्त्व व्यापक अनादि-अनन्त त्रिकाल है। सहज स्वाभाविक ज्ञान त्रिकाली है, केवलज्ञान स्वाभाविक ज्ञान की पर्याय है, वह त्रिकाली नहीं; और वह ज्ञान निमित्त के अभाव की अपेक्षावाला एक समयमात्र की अवस्थावाला है।

स्वरूप सहजज्ञान है, वह शुद्ध अन्तरंग तत्त्वरूप परम एकरूप त्रिकाल है। आत्मा अनादि-अनन्त, उसमें व्यापक वह स्वरूपप्रत्यक्ष त्रिकाल है। केवलज्ञानादि पाँच ज्ञान, वे स्वरूपप्रत्यक्ष सामान्य नहीं, परन्तु पर्याय है, विशेष है तथा उल्टे ज्ञान की भी तीन पर्याय हैं।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसमें उसका स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान एकरूप ज्ञान-ध्रुव पर्यायरूप ज्ञान त्रिकाल व्यापकर प्रत्येक समय में रहा है, वह स्वरूपप्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सम्पूर्णप्रत्यक्ष पर्याय है। आत्मा में जो श्रद्धा और अनुभव है, वह तो सापेक्ष पर्याय है; आत्मा तो त्रिकाल निरावरण निरपेक्ष है। केवलज्ञान कार्यरूप पर्याय है, प्रगट पर्याय है; और स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान तो त्रिकाल-अनादि अनन्त है। पर्याय तो समय-समय में सब गुणों में से ही आती है, परन्तु यहाँ जो ध्रुवपर्यायरूप ज्ञान वर्णन किया है, वह अन्तरंग तत्त्वरूप एकरूप त्रिकाल स्वरूपप्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सम्पूर्णप्रत्यक्ष पर्याय है। सम्पूर्णप्रत्यक्ष अर्थात् स्व और पर को परिपूर्ण जाने वह; और स्वरूपप्रत्यक्ष वह अपने को स्वरूप में एकरूप ध्रुवरूप प्रत्यक्ष है। पहले सामान्य बतलाकर फिर विशेष कहेंगे।

दया, दानादि पुण्य और हिंसा, चोरी आदि पापभाव से भिन्न आत्मा के स्वरूप का भान होने पर और निर्मलता में बढ़ते हुए केवलज्ञान होता है, और पुण्य-पाप मेरे हैं, ऐसी उल्टी मान्यता होने से विपरीत पर्याय होती है; ये दोनों क्षणिक पर्याय है, परन्तु अन्तरंग में व्यापक जो एकरूप ध्रुवरूप त्रिकाल सहजज्ञान है, वह स्वरूपप्रत्यक्ष है और केवलज्ञान तो सकलप्रत्यक्ष (पर्याय) है। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने यह स्वरूप समझाते हुए मात्र अध्यात्म का अमृत ही प्रवाहित किया है।

अन्तरंग तत्त्वरूप सहजज्ञान एकरूप वर्तता है। निगोद में भी त्रिकाल एकरूप वर्तता है। केवलज्ञान प्रगट हो या न हो, परन्तु वह (सहजज्ञान) तो एकरूप स्वरूपप्रत्यक्ष

सब जीवों को है। अनुभव प्रगट हो, वह पर्याय का होता है। आचार्य भगवान पहले स्वरूपप्रत्यक्ष सामान्य स्थापित करके फिर विशेष कहते हैं।

वास्तविक आत्मा वस्तु क्या है, उसके भान बिना और ज्ञान बिना जीव को उसका माहात्म्य नहीं आता। स्वरूपप्रत्यक्ष का स्वरूप समयसार की अपेक्षा नियमसार में खुल्लमखुल्ला आचार्यदेव ने रखा है। (९०वीं गाथा में) समयसार में वह गूढ़ रखा है।

आत्मा वस्तु है, उसका ज्ञानगुण अनादि-अनन्त है। उसमें आत्मा के स्वरूप को भूलकर पुण्य-पाप को अपना माने, वह अज्ञान है। अज्ञानी की तीन अवस्था है, और आत्मा के ज्ञानस्वरूप का भान होने के पश्चात् सम्यग्ज्ञान की पाँच अवस्थायें हैं, वे कहने से पहले यहाँ शुद्ध अन्तरंग तत्त्वरूप एकरूप अभेदज्ञान वर्णन किया है। वह ज्ञान परमतत्त्व में व्यापक होने से एकरूप ध्रुवरूप त्रिकाल स्वरूपप्रत्यक्ष है। मति, श्रुत, अवधि और मन:पर्यय, वह सम्पूर्णप्रत्यक्ष नहीं, केवलज्ञान सम्पूर्णप्रत्यक्ष है, वह सादि-अनन्त है और स्वरूपप्रत्यक्ष ज्ञान एकरूप ध्रुव अनादि-अनन्त प्रत्यक्ष है, उसमें से केवलज्ञान आदि कार्यपर्याय प्रगट होती है।

पहले दसवीं गाथा में जो उपयोगरूप ज्ञान कहा है, उसे यहाँ 'प्रत्यक्ष' विशेषण लगाकर उसका स्वरूप विशेषरूप से प्रसिद्ध किया है। सहज अन्तरंग ज्ञानस्वरूप ध्रुव त्रिकाल प्रत्यक्ष है। आत्मद्रव्य का ध्रुव व्यापाररूप उपयोग, वह स्वरूप प्रत्यक्ष है, वह निश्चय प्रत्यक्ष है। यदि वह त्रिकाल निश्चय प्रत्यक्ष-स्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान न हो तो व्यवहार प्रत्यक्ष मति-श्रुत आदि ज्ञान प्रगट हो नहीं। सकलप्रत्यक्ष (केवलज्ञान) वह सादि-अनन्त एकरूप एक समयमात्र की पर्याय है। स्वरूपप्रत्यक्ष वह ध्रुव पर्याय त्रिकाल अनादि-अनन्त है। यहाँ आचार्य महाराज ने पर्याय में भी अन्तर डाला है। स्वरूपप्रत्यक्ष सामान्यज्ञान की बात की। अब ज्ञान की अपेक्षावाली विशेष पर्याय की बात करते हैं।

केवलज्ञान:—आत्मा अपने आप इन्द्रिय-मन के निमित्त बिना स्व-पर को सम्पूर्णरूप से जाने, वह सम्पूर्ण प्रत्यक्ष केवलज्ञान है। केवलज्ञान पर्याय आत्मा में प्रगट नहीं परन्तु पुरुषार्थ से प्रगट करे, तब होती है।

मन:पर्ययज्ञान:—छठवें गुणस्थानकवाले मुनियों को स्वरूप की रमणता से निर्मलता होने पर सामनेवाले के मन की बात (अवधिज्ञान में जाने हुए रूपी पदार्थ के अनन्तवें भाग) जाने, वह मन:पर्ययज्ञान है, वह एकदेश प्रत्यक्ष है।

अवधिज्ञान:—मन और इन्द्रिय बिना स्वर्ग-नरक ज्ञात हो, वह अवधिज्ञान है, वह आंशिक प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान की अपेक्षा से अवधि और मन:पर्यय दोनों परोक्ष है। इन सबका प्रयोजन यह है कि कहे हुए ज्ञान के भेदों में आत्मा के साक्षात् मोक्ष का फल, प्रगट दशा का कारण, ज्ञान से कभी भी पृथक् नहीं पड़ती, ऐसी ध्रुवपर्याय, वह ही है।

आत्मा त्रिकाली एकरूप तत्त्व है; उस निज तत्त्व में लवलीन—तल्लीन जो सहजरूप-ध्रुवरूप-उपयोगरूप सहजज्ञान, वही मोक्ष का मूल है, आत्मा के उपयोगस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञान को ही मोक्ष का मूल कहा है। सिद्धपद, केवलज्ञान आदि अभूतार्थ है, कायम टिकनेवाले नहीं। त्रिकाल टिकनेवाला-कायम टिकनेवाला एकरूप-ध्रुवरूप पर्याय है-वही सम्यग्दर्शन का कारण है। उपयोग के केवलज्ञानादि भेदों में एकरूप—ध्रुवरूप साक्षात् पर्याय अनादि-अनन्त है, वही मोक्ष का साक्षात् कारण है। आत्मा के सुख, आनन्द, दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि प्रत्येक गुण में एकरूप ध्रुवरूप पर्याय अनादि-अनन्त है। आनन्द में, केवलज्ञान हो तब आनन्द की जो पर्याय प्रगट होती है, वह नहीं, परन्तु त्रिकाल एकरूप आनन्दरूप सहजस्वरूप आनन्दगुण का वर्तमान है; उसमें से आनन्द की प्रगट पर्याय आती है।

आत्मा वस्तु है, उसमें अनन्त गुण भरे हैं, वे गुण बाहर से नहीं आते। शरीरादि तो आत्मा से भिन्न वस्तु है, जड़ परमाणु के बने हुए हैं। उसमें से आत्मा के गुण नहीं आते। जो अनन्त सिद्ध हुए, वे सब अपने गुण थे, उन्हें प्रगट करके हुए हैं। आत्मा और उसके गुण त्रिकाल है। उसमें ज्ञानगुण का सहजरूप उपयोगरूप व्यापार त्रिकाल है, उसमें से केवलज्ञानादि पर्याय प्रगट होती है; वह सामान्य में से विशेष प्रगट होता है।

आत्मा वस्तु, उसका ज्ञानगुण, उसका ध्रुव स्वभावरूप उपयोग वह—भव्य जीवों का उपयोग वह—ही पारिणामिकभाव है। अकेला स्वभावभाव ध्रुव उपयोग, उसे पारिणामिकभाव कहा है। पारिणामिकभाव अभेद है। भव्य—लायक जीवों को अर्थात्

कि अपने हित के वांछक जीवों को स्वाभाविक ज्ञान परम स्वभाव जो ध्रुवरूप सहज ज्ञान है, उसके अतिरिक्त कोई ज्ञान उपादेय नहीं है। दृष्टि में केवलज्ञान भी आदरणीय नहीं है, वह भी एक समयमात्र की पर्याय है। सहज एकरूप ध्रुवरूप त्रिकाल ज्ञान, वही दृष्टि को आदरणीय है और उसमें से ही केवलज्ञान इत्यादि कार्यपर्याय प्रगट होती है। स्वभावज्ञान एकरूप अभेद परिपूर्ण है, उसके ऊपर नजर लगाने जैसा है, इसके अतिरिक्त शरीरादि तो पर है, पुण्य-पाप का जो विकार होता है, वह क्षणिक है और जो केवलज्ञानादि पूर्ण पर्याय होती है, वह भी परमार्थ से आदरणीय नहीं है, क्योंकि वह नयी प्रगटती अवस्था है। जहाँ केवलज्ञान भी दृष्टि को आदरणीय नहीं, वहाँ पुण्य-पाप के भाव या शरीर, मन, वाणी की क्रिया तो आदरणीय होगी ही कहाँ से? आत्मा वस्तु, उसका ज्ञानगुण और उसका ध्रुवरूप एकरूप उपयोग त्रिकाल है, उसकी प्रतीति और उसका ही माहात्म्य करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। आदरणीय तो एकरूप सहज त्रिकाल उपयोग है। मति-श्रुत या केवल की निर्मल पर्याय भी आदरणीय नहीं तो फिर पुण्य, पाप, निमित्त या शरीरादि जड़ तो आदरणीय ही कहाँ से होंगे?

ओहोहो! त्रिलोकनाथ तीर्थंकर भगवान ने नौ तत्त्व बताये, छह द्रव्य बताये, उसमें जीवतत्त्व ऐसा होता है और उसका उपयोग ऐसा होता है, यह बताया, क्योंकि उपयोग से जीव समझ में आता है, इसलिए उपयोग बताया। ऐसे जीवतत्त्व की खबर न हो, नव तत्त्व की खबर न हो, छह द्रव्य की खबर न हो और पुण्य-पाप की या जड़ की क्रिया में ही धर्म मान बैठे हों, उसे आत्मा के उपयोगधर्म की तो खबर ही कहाँ से होगी?

सहजज्ञान चैतन्य का विलास, उसमें ही मौज-मजा है। केवलज्ञान हो, तब ही नहीं परन्तु सदा ही वह सहजात्म चैतन्यमूर्ति चैतन्य का विलास अमृतमय है, आनन्दमय है। राग-द्वेष और पुण्य-पाप, वह तो विकार और क्षणिक! क्षणिक! क्षणिक! केवलज्ञान भी क्षणिक—एक समयमात्र की निर्मल पर्याय है। आत्मा त्रिकाल अमृतमय है। संसार -मोक्ष, सुख-दुःख और पुण्य-पाप तो क्षणिक हैं। यहाँ तो कहा कि त्रिकाल एकरूप ध्रुवरूप पारिणामिकभावरूप उपयोग, वही सम्यग्दर्शन का विषय है। केवलज्ञान एक समयमात्र की अवस्था है, वह भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है।

हाथ-पैर या शरीर, मन, वाणी की क्रिया तो आत्मा की नहीं; पुण्य-पाप जो आत्मा की अवस्था में होते हैं, वे भी आत्मा का स्वरूप नहीं, और अन्दर मतिज्ञान या केवलज्ञानादि निर्मल पर्याय प्रगटे, वह भी आत्मा का पूर्णस्वरूप नहीं, उसका लक्ष्य धर्म का कारण नहीं। धर्म का कारण तो एक स्वाभाविक एकाकार ज्ञान उपयोग है-वह ही है, उसके ऊपर ही सम्यग्दर्शन की नजर है—वही सम्यग्दर्शन का विषय है; ऐसा जो स्वभाव, उसे कभी आवरण नहीं, वह बाधा और पीड़ारहित है। ऐसी चैतन्य के विलासरूप परमशक्ति, वह सदा अमृतमय है।

'**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' यह व्याख्या भी पर्याय से है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह तो न्यून पर्याय है। न्यून पर्याय पूर्ण पर्याय का कारण परमार्थ से होता नहीं। पूरी पर्याय का कारण तो द्रव्य ही है, तथापि न्यून निर्मल पर्याय को व्यवहार से कारण कहा जाता है। श्री समयसारजी का कथन वस्तु से है और तत्त्वार्थसूत्र का कथन पर्याय से है। दोनों होकर पूरी वस्तु का प्रमाणज्ञान होता है।

वह सहजज्ञान सदा आनन्दरूप है; यहाँ 'सदा आनन्दरूप' कहा है। क्योंकि केवलज्ञानादि तो प्रगटे, तब आनन्दरूप हों, वैसा यह नहीं, परन्तु यह सहजज्ञान एकरूप ध्रुवरूप पर्याय सदा आनन्दमय ही है। वह त्रिकाल शक्तिरूप है। और वह ज्ञान सहज स्वरूप में स्थिररूप ध्रुवरूप एकरूप स्वाभाविक परम चारित्रमय है। टीका में 'परम' शब्द पद्मप्रभमलधारिदेव ने बहुत प्रयोग किया है। सहजज्ञान परम चारित्रमय है। यथाख्यातचारित्र आदि जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उसकी यह बात नहीं परन्तु अन्दर ध्रुवरूप एकरूप सहजज्ञान सदा परम चारित्रमय ही है, वह बताते हैं।

ओहोहो! ऐसी अलौकिक बात भगवान के शास्त्र में रही है, उसे सुनो तो सही! धर्म क्या चीज़ है, वह किसी दिन कितने ही जीवों ने सुना ही नहीं। आत्मा शरीर-वाणी-मन से भिन्न, पुण्य-पाप के क्षणिक विकार से भिन्न और एक समयमात्र की निर्मल पर्याय प्रगटी, उतना भी नहीं; अन्दर एकरूप ध्रुव त्रिकाल आत्मस्वभाव परिपूर्ण भरा है, उसके ऊपर नजर, वही धर्म है। त्रिकाली सत् का जिसे आदर हुआ, उसे असत् का आदर होता ही नहीं। पूरा सत् त्रिकाल है, उसके निर्णय बिना धर्म नहीं होता; सदा

अन्तर्मुख एकरूप त्रिकाल ज्ञान, वही चारित्र है। उसका स्वीकार, वही धर्म है।

आत्मा एकरूप अखण्डानन्द परिपूर्ण ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा इत्यादि समस्त गुणों की ध्रुवपर्याय से परिपूर्ण है। सदा निकटवर्ती परमचैतन्य की श्रद्धानस्वरूप जो सहजज्ञान, वह त्रिकालरूप है। जो चैतन्यस्वरूप, वह तो त्रिकाल है परन्तु उसका श्रद्धानस्वरूप सहजज्ञान भी त्रिकालवर्ती एकरूप ध्रुव त्रिकाल है; इस प्रकार ध्रुव एकरूप सहज ज्ञानपर्याय में आनन्द, श्रद्धा तथा चारित्र को एकरूप अभेदरूप से समाहित किया; अनन्त दर्शन-ज्ञान-वीर्य और सुख, इस चतुष्टय का त्रिकाल एकरूप ध्रुवरूप से स्वभाव से स्वामित्व है, इस प्रकार के सहजज्ञान द्वारा आत्मस्वभाव की भावना करने का कहा है। श्रद्धानस्वरूप सहजज्ञान को यहाँ 'तीन काल में नहीं टूटनेवाला' ऐसा एक अधिक विशेषण दिया है। सहजज्ञान सदा निकटवर्ती परम चैतन्य के श्रद्धानस्वरूप है। इसलिए आत्मवस्तु में श्रद्धा नाम का गुण है, उसकी अवस्था नहीं परन्तु उसका अखण्ड एकरूप वर्तमान है, वह ज्ञान के साथ सदा अभेद पड़ा है। 'त्रिकाल नहीं टूटनेवाला' कहने से अनादि-अनन्त एकरूप बतलाना है। ऐसे आत्मा की रुचि और भावना करना चाहिए, उस भावनारूप मोक्षमार्ग से ही मोक्ष प्रगट होता है। आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की एकतारूप भावना, वही मोक्ष का कारण है।

यह विषय मात्र अध्यात्म का है; आत्मा का त्रिकाल परिपूर्ण स्वभाव बताया है। यह विषय सुने बिना ख्याल में नहीं आता और ख्याल में आये बिना भावना भी नहीं कर सकता। जैसे मुम्बई देखा या सुना न हो तो मुम्बई याद आती नहीं परन्तु मुम्बई देखा हो तो मुम्बई की दुकान इत्यादि याद आती है; उसी प्रकार आत्मा वस्तु परिपूर्ण है, उसे सुना न हो तो ख्याल में कहाँ से आवे ? और ख्याल में आये बिना उसकी भावना तथा रुचि भी हो नहीं, इसलिए पहले यथार्थ श्रवण करके समझना चाहिए।

आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र, उसका त्रिकाल एकरूप ध्रुवरूप वर्तमान है, उसे सहज कहो, ध्रुवपर्याय कहो, स्वाभाविक कहो या त्रिकाल कहो, वह एक ही वस्तु है, पूरी आत्मवस्तु स्वयं ही वर्तमानरूप है। ऐसे आत्मा की ही श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें ही स्थिर होना, वह धर्म है, बाहर में कहीं धर्म नहीं है।

आत्मा शरीर, मन, वाणी आदि जड़ पदार्थों से भिन्न और दया-भक्ति-प्रभावना आदि के शुभभाव, वह पुण्य तथा हिंसादि के अशुभभाव, वह पाप, उनसे पार है; परन्तु यहाँ तो कहा कि आत्मा में क्षण-क्षण में जो निर्मल पर्याय होती है, उतना भी मैं नहीं; मैं त्रिकाल परिपूर्ण एकरूप निरपेक्ष हूँ, ऐसी सहज ज्ञानस्वरूप की भावना और रुचि, वही मोक्ष का कारण है; ऐसा सहजस्वरूप, वही अखण्ड है, उसका कोई नाथ नहीं; कोई ईश्वरादि उसका कर्ता नहीं। सहजस्वभाव त्रिकाल है, वह स्वयं ही सनाथ है। ऐसा त्रिकाली भगवान आत्मा, उसकी पवित्रदशा-पूर्ण दशा, वही मोक्ष है। ऐसे आत्मा का भान, ज्ञान और स्थिरता होने से मोक्ष होता है और वही, पूर्ण दशारूप मुक्ति कि जिसे दूसरा कोई नाथ नहीं, उसका पति है।

ईश्वर किसी का करे नहीं, ईश्वर तो सब जानता है। जो होता है, वह त्रिकाल है; और जो नहीं होता, वह नया नहीं बनता। त्रिकाली वस्तु हो, उसका कर्ता नहीं होता। वस्तु का कर्ता मानना, वह जन्म-मरण का कारण है। वस्तु का कर्ता हो अर्थात् वस्तु स्वयं स्वतन्त्र नहीं परन्तु पराधीन है, ऐसी मान्यता ही भटकने का कारण है। आत्मा का कोई स्वामी नहीं, इसलिए वह स्वतन्त्र है। आत्मायें अनन्त हैं, रजकण भी अनन्त हैं, धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है और कालाणु असंख्यात हैं। ये छहों द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। किसी का कोई कर्ता नहीं। आत्मसिद्धि में कहा है कि 'कर्ता ईश्वर कोई नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव' ईश्वर निर्मल शुद्ध है, जानना-देखना उसका स्वभाव है; ईश्वर में कोई कर्तापना मानना, वह दोष है। वह (ईश्वर) तो परम आनन्द ही भोगता है, वह किसी को कुछ देता नहीं। ईश्वर को कर्ता माननेवाले अनन्त जन्म-मरण में भटकनेवाले हैं।

आत्मा में राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव होते हैं। वे तो क्षणिक विकार हैं और मति-श्रुत या केवल आदि निर्मल पर्याय हो, वह भी क्षणिक एक समयमात्र की है, इसलिए वह आदरणीय नहीं, परन्तु एकरूप त्रिकाली ध्रुवद्रव्य अन्दर पड़ा है, वही आदरणीय है, उसके भान बिना मोक्ष होगा नहीं।

इस नियमसार की टीका करते हुए मुनिराज को स्वयं को ही लगा कि मैंने कोई

ब्रह्ममय उपदेश किया है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर भगवान की वाणी जो शब्दब्रह्म, उसमें जो तत्त्व निकला है, उस अध्यात्म का मूल मैंने कहा है, इसलिए मैंने यह ब्रह्ममय उपदेश ही किया है। यही कथन संसाररूपी बेल का मूल काटनेवाला है।

सर्वज्ञ भगवान ने छह द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्त्व देखे हैं। आलू की एक छोटी से छोटी कणी में असंख्यात औदारिकशरीर और उस एक-एक शरीर में अनन्त जीव देखे हैं, उस प्रत्येक आत्मा का स्वभाव ऐसा ही है। वह स्वभाव कहीं बाहर से नहीं आता। उस आलू में रहा हुआ जीव कषाय की मन्दता करके मनुष्य होकर आठ वर्ष में ऐसे स्वभाव का भान करके उसमें स्थिरता करके मोक्षदशा प्रगट कर सकता है।

टीकाकार कहते हैं कि —

(मालिनी)

इति निगदित-भेदज्ञान-मासाद्य भव्यः,
परिहरतु समस्तं घोर-सन्सार-मूलम्।
सुकृतमसुकृतं वा दुःखमुच्चैः सुखं वा,
तत उपरि समग्रं शाश्वतं शं प्रयाति।।१८।।

जो भव्य जीव-लायक प्राणी ऊपर कहा वैसा आत्मा का स्वरूप पहिचानकर-समझकर, 'पर से-पुण्य से—पाप से मेरा स्वरूप निराला है, सहज ज्ञानस्वरूप एकरूप है, इसलिए ज्ञान में भेद पड़े, वह मैं नहीं—मैं अखण्डरूप हूँ'—ऐसे ज्ञान की प्राप्ति करके क्रम-क्रम से स्थिरता करते हैं, वे भव्य जीव सब सुखों में उत्तम ऐसे मोक्ष के अविनाशी आनन्द को प्राप्त करते हैं। यह भयानक संसार भव का टोला है। पुण्य-पाप, सुख-दुःख की कल्पना, वह अज्ञान है। विकार, वह चौरासी का मूल है, उसे छोड़कर अन्दर आत्मा की जिसने श्रद्धा की और उसमें क्रम-क्रम से स्थिरता की, वे वीतराग हो गये।

अनादि से नहीं सुना हुआ और इस भव में परिचय नहीं किया हुआ, ऐसे आत्मा के स्वरूप का परिचय जो लायक प्राणी करता है, वही अविनाशी आत्मा का भान करके स्वरूप के अविनाशी आनन्द की प्राप्ति करता है।

(अनुष्टुप्)

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः ।।१९।।

आत्मा का भान होने के पश्चात् विशेष स्थिर दशा जिसे मुनिपना आया हो, ऐसे बुद्धिमान प्राणी परिग्रह का आग्रह छोड़कर निराकुल चैतन्यमात्र शरीर की भावना करते हैं। आग्रह को छोड़ते नहीं तो मुनिपना आता नहीं, इसलिए आग्रह और हठ छोड़कर तथा देह के प्रति भी उपेक्षाबुद्धि करके शरीर का राग अर्थात् आसक्ति छोड़कर अकेला आत्मा अखण्ड निराकुलस्वरूप है, वही ज्ञानशरीर है, ऐसी भावना से मुनिदशा प्रगट होती है।

(शार्दूलविक्रीडित)

शस्ताशस्तसमस्तरागविलयान्मोहस्य निर्मूलनाद्,
द्वेषाम्भःपरिपूर्ण-मानसघटप्रध्वन्सनात् पावनम्।
ज्ञानज्योतिरनुत्तमं निरुपधि प्रव्यक्ति नित्योदितं,
भेदज्ञानमहीजसत्फलमिदं वन्द्यं जगन्मङ्गलम् ।।२०।।

प्रथम मैं ज्ञानमूर्ति हूँ, ऐसा भान और पहिचान होने के पश्चात् शुभ-अशुभ दोनों भावों को छोड़कर उस ज्ञानमूर्ति आत्मा में स्थिर हो तो मोक्षदशा प्रगटे। अकेला सम्यग्दर्शन मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है, परन्तु सच्ची श्रद्धा-सच्चा ज्ञान और सच्ची स्थिरता, वही व्यवहार से मोक्ष का कारण है, परमार्थ से मोक्ष का कारण अखण्ड द्रव्य है।

चैतन्य ज्योति स्वभाव की श्रद्धा और स्थिरता होने पर राग छूट जाता है और द्वेषरूपी जल से भरा हुआ मनरूपी घड़ा फूट जाता है, वही चारित्र है और वही मोक्ष का कारण है।

★★★★★

श्री महावीर भगवान केवलज्ञान कल्याणक मंगल दिन

व्याख्यान नं. १३, दिनांक ०२-०५-१९४४, मंगलवार

(गाथा ११-१२ चालू। वैशाख शुक्ल १०।)

यहाँ आत्मा के पूर्ण स्वरूप की बात करते हैं। आत्मा ज्ञानज्योति है; ज्ञानज्योति कैसी होती है, वह कहते हैं। जैसे अग्नि उष्णता की ज्योति है, उष्णता उसका स्वरूप है, परन्तु काजल, धुएँ की कालिमा और लकड़ियाँ अग्नि का मूलस्वरूप नहीं हैं; उसी प्रकार आत्मा ज्ञान की ज्योति है, ज्ञान उसका स्वरूप है; शरीर, मन, वाणी, आदि लकड़ियाँ या पुण्य-पाप के भाव आत्मा का स्वरूप नहीं है, आत्मा तो ज्ञान का रसकन्द है, जानना, वही उसका स्वरूप है।

प्रश्न—पहला धर्म कौन सा?

उत्तर—शरीर, पैसा, स्त्री, पुत्रादि, वह मैं नहीं तथा दया, दानादि शुभभाव या हिंसा, चोरी आदि के अशुभभाव, वे दोनों भाव विकार हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं; मेरा स्वरूप पर से निराला पवित्र है, इस प्रकार चैतन्य ज्योतिस्वरूप आत्मा की भावना भाते-भाते, पर से अपने को भिन्न करते-करते भेदज्ञानरूपी वृक्ष होता है, वही पहला धर्म है; और उस भेदज्ञानरूपी वृक्ष में से ही केवलज्ञान-पूर्ण दशारूपी फल आता है; इसमें मोक्षमार्ग और मोक्ष दोनों बतलाये हैं।

चैतन्य अर्थात् मैं जानने के तत्त्व से ही भरा हूँ, ऐसे सच्चे ज्ञान द्वारा भेदज्ञानरूपी वृक्ष में से ही केवलज्ञानरूपी सच्चा फल आता है—केवलज्ञान प्रगट होता है, इसमें दो न्याय आते हैं।

(१) शरीर, मकान, पैसा आदि तो जड़ है और दया, दान, भक्ति, प्रभावना आदि शुभ या हिंसा, विषय, कषाय, चोरी आदि अशुभक्रिया करने के विकारी भाव, वह आत्मा का धर्म नहीं है।

(२) आत्मा पर से निराला परिपूर्ण है, ऐसे भेदज्ञान द्वारा भिन्न करने से उस भेदज्ञानरूपी वृक्ष में से केवलज्ञानरूपी सच्चा फल प्रगट होता है।

शरीर, मन, वाणी तो मैं नहीं परन्तु खेद या हर्ष इत्यादि की वृत्ति हो, वह भी मैं नहीं; मैं तो ज्ञान हूँ—ऐसे पर से अपने को भिन्न करने की भावना में भेदज्ञानरूपी वृक्ष हुआ और उस भेदज्ञान का फल, वही केवलज्ञान है; पुण्य-पाप आदि कोई भेदज्ञानरूपी वृक्ष का फल नहीं है।

भेदज्ञान अर्थात् पर से पृथक्ता का निरन्तर अभ्यास, पंच महाव्रत के भाव या तीर्थंकरगोत्र जिस भाव से बँधे, वह भाव भी राग है, उससे मैं भिन्न हूँ, वह मेरे स्वभाव से भिन्न हैं—ऐसा भेदज्ञान करते-करते केवलज्ञानरूपी फल प्रगट होता है। भेदज्ञान में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों समाहित हो जाते हैं; भेदज्ञान होने के पश्चात्, पूर्णदशा न हो, तब तक विकल्प होता है परन्तु वह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा भान हो। जैसे अग्नि की ज्योति में धुआँ या काजल हो, वह अग्नि का स्वरूप नहीं है परन्तु विकार है, दोष है; उसी प्रकार आत्मा ज्ञान की ज्योति है, उसमें पुण्य-पाप होते हैं। वह विकार है, वह आत्मा का मूलस्वरूप नहीं है। ऐसे भेदज्ञान से आत्मा को भिन्न करते-करते केवलज्ञान प्रगट हो, वही सच्चा फल है।

इस जीव अधिकार में जीवतत्त्व की बात चलती है; बारह गाथा तक उसका वर्णन किया, अभी आगे की पन्द्रह इत्यादि गाथाओं में उसकी बहुत सरस और सूक्ष्म बात आयेगी।

चैतन्य के वर्तमान परिणाम ध्रुवरूप परिपूर्ण है, उसकी भावना भाते-भाते सच्चा भेदज्ञान होता है और उस भेदज्ञानरूपी वृक्ष में से केवलज्ञानरूपी सच्चा फल प्रगट होता है। भेदज्ञानरूपी वृक्ष का सच्चा फल, वही केवलज्ञान है। भगवान तीर्थंकर त्रिलोक परमात्मा महावीर भगवान को यह भेदज्ञान साढ़े बारह वर्ष तक निरन्तर भाते-भाते आज से २५०० वर्ष पहले वैशाख शुक्ल दसवीं के दिन केवलज्ञान प्रगट हुआ था। महावीर भगवान को केवलज्ञान हुआ और इन्द्रों ने धर्मसभा की (समवसरण की) रचना की, परन्तु गणधर पदवी के योग्य लायक प्राणी धर्मसभा में उपस्थित नहीं होने से ६६ दिन तक वाणी नहीं खिरी। तत्पश्चात् श्रावण कृष्ण एकम् के दिन गौतम (इन्द्रभूति) जो गणधरपद के योग्य थे, वे धर्मसभा में आने पर दिव्यध्वनि खिरी। भगवान को केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह वैशाख शुक्ल दसवीं का मांगलिक दिन आज है।

भगवान परमात्मा देवाधिदेव महावीरस्वामी, जिनका शासन अभी वर्तता है, उन्हें आज की तिथि को केवलज्ञान प्रगट हुआ था, जो भगवान होते हैं अर्थात् कि जिन्हें पूर्ण स्वरूप प्रगट होता है, उन सबको केवलज्ञान होता ही है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में धर्मसभा में देहसहित श्री सीमन्धर भगवान अरिहन्तपद में विराजमान हैं, उन्हें लाखों वर्ष पहले केवलज्ञान प्रगट हुआ है और वे देहसहित अभी अरबों वर्ष रहेंगे। यह सब बड़ी बात किसी के छोटे कलेजे में न बैठे तो क्या हो? बात तो यही त्रिकाल सत्य है। वर्तमान में सीमन्धर भगवान को केवलज्ञान है और जितने भगवान होते हैं, उन सबको केवलज्ञान प्रगट होता है। वह केवलज्ञान बाहर से प्रगट नहीं होता परन्तु अन्दर परिपूर्ण स्वभाव की भावना भाते-भाते उस भावनारूपी वृक्ष में से केवलज्ञानरूपी सच्चा फल प्रगट होता है। पूर्ण न हो, वहाँ बीच में शुभराग आ जाता है, परन्तु वह भावना-वृक्ष का फल नहीं है। भावना-वृक्ष का फल तो पूर्णदशा है। धन्य वह काल, धन्य वह दिन, धन्य वह पल; कि जिस समय पूर्णदशा प्रगटी, सो प्रगटी, वह कभी टूटेगी नहीं और सादि-अनन्त काल तक टिकी रहेगी! मैं परिपूर्ण निर्मल शुद्ध आत्मा हूँ—ऐसा भान होने पर, निर्मलदशा का जो अनुभव हुआ, वह बढ़ते-बढ़ते मेरी केवलज्ञानज्योति अर्थात् पूर्ण अवस्था जिस समय में, जिस पल में, जिस दिन, जिस क्षेत्र में प्रगट होगी, उसे धन्य है; मैं ऐसी ज्ञानज्योति को नमस्कार करता हूँ, ऐसी आचार्य महाराज भावना करते हैं।

पहली ही गाथा में असाधारण मांगलिक से शुरु किया है। संसार में पुत्र का विवाह हो, घर का वास्तु हो, वह सब मांगलिक माना जाता है। परन्तु वह तो नाशवान है, उस मांगलिक के पीछे चौरासी का दु:ख पड़ा है और वर्तमान भी दु:ख ही है। किन्तु यह तो असाधारण मांगलिक है, इस मांगलिक में वर्तमान सुख है और उसके पीछे सिद्धदशा पड़ी है; उसके जैसा कोई मांगलिक नहीं है। मैं आत्मा एक समय में ध्रुव, त्रिकाल एकरूप उपयोग से परिपूर्ण हूँ, ऐसी भावना भाने से परभाव से अपने को भिन्न करते-करते परिपूर्ण पृथक् पड़ गया, उसे केवलज्ञान हुआ, वही परिपूर्ण मांगलिक है।

जिस प्रकार अग्नि का स्वरूप उष्णता है, वह उष्णता की ज्योति है, उसमें धुएँ के कारण कालिमा दिखाई दे, वह अग्नि का मूलस्वरूप नहीं है, लकड़ियाँ भी उसका स्वरूप नहीं है, लकड़ियाँ और धुएँ से पृथक् करने से अकेली उष्णता रह गयी, वही

अग्नि है; उसी प्रकार शरीरादि लकड़ियाँ हैं, वह आत्मा का स्वरूप नहीं हैं और पुण्य-पाप के विकाररूपी जो कालिमा होती है, वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा का स्वरूप तो अकेली ज्ञानज्योति है—ऐसे भेदज्ञान द्वारा पर से अपने को भिन्न करने से केवलज्ञानरूपी सच्चा फल प्रगट हुआ, उसे ही मैं नमस्कार करता हूँ—इस प्रकार आचार्य भगवान ने केवलज्ञान की भावना की है।

(मंदाक्रांता)

मोक्षे मोक्षे जयति सहज-ज्ञान-मानन्दतानं,
निर्व्याबाधं स्फुटित-सहजावस्थ-मन्तर्मुखं च।
लीनं स्वस्मिन्सहज-विलसच्चिच्चमत्कारमात्रे,
स्वस्य ज्योतिःप्रतिहततमोवृत्तिनित्याभिरामम् ।।२१।।

आत्मा की परिपूर्ण ज्ञानदशा में ही आनन्द-सुख है। अपनी उल्टी मान्यता के कारण संसार के आनन्द में, घर में, झूले में, पलंग में, बगीचे में-फव्वारे इत्यादि में सुख मानता है, परन्तु पर में सुख की कल्पना, वह दुःख ही है। यहाँ किसी को **प्रश्न** होता है कि यदि सुख न हो तो फिर संसार का काम करते किसलिए होंगे? परन्तु पागल क्या करे? जैसे संसार में कोई पागल हुआ हो और फिर दाने की कोठी उत्थापे, दीवार में छिद्र करे और उसमें आनन्द माने, उसकी प्रकार जिसे आत्मा के स्वभाव का भान नहीं, अजानपना है, ऐसे जीव पर में सुख-आनन्द मानते हैं, वे सब पागल ही हैं; आत्मा के सहजानन्दस्वभाव में ही सुख है। पैसा, पुत्र, बँगला इत्यादि में कहीं सुख नहीं है। आत्मा का सहजज्ञान बढ़ा अर्थात् आनन्द का विस्तार हुआ। जैसे-जैसे ज्ञान बढ़े, वैसे-वैसे समाधान बढ़ता जाता है और जैसे समाधान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आनन्द बढ़ता जाता है।

आत्मा सुख का रसकन्द है, उसे न मानकर बाहर में सुख मानना, वही मूढ़ता है। आत्मा परिपूर्ण आनन्दरस से भरा है; जैसे नमक में खारापन ही भरा है। नमक, वह खारेपन की ही डली है; उसी प्रकार आत्मा में एकरूप ध्रुव त्रिकाली आनन्द ही भरा है। आत्मा आनन्द का ही कन्द है, परन्तु उस आनन्द के अनुभव की पूर्णता प्रगट पूर्णदशा होती है, तब ही होती है।

आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा के स्वाभाविक निर्मल स्वभाव की सदा जय हो! आत्मा ज्ञानमूर्ति सहज ज्ञानस्वभावी है, उसमें आनन्द का विस्तार भरा है, उसका भान हुआ तो पर्याय में वह आनन्द बढ़ते-बढ़ते पूर्णदशा में पूर्ण प्रगट हो गया—वह सदा जयवन्त वर्तो!

आत्मा का सहजज्ञान कैसा है, वह अब कहते हैं :—आत्मा के सहजज्ञान को कर्म का विघ्न नहीं है। शरीरादि जड़ है, वे कभी ज्ञान को अवरोधक नहीं हैं; पर को अपना माननेरूप अपनी ही विपरीत मान्यता थी, वह अवरोधक थी, परन्तु वह मान्यता टालने के पश्चात् कोई अवरोधक नहीं है। क्योंकि सिद्ध भगवान हुए, उनका जैसा स्वभाव है, वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है, अन्तरस्वभाव सहज स्वाभाविक ज्ञान एकरूप ध्रुव त्रिकाल दशा से प्रगटरूप भरा है; मोक्षदशा प्रगट होने की शक्ति से भरचक भरा है।

आचार्यदेव ने टीका में बहुत ही ऊँचे भाव से भरे हुए शब्द प्रयोग किये हैं, अकेले स्वभाव का ही वर्णन किया है।

संसार में बँगले बनाते हैं, झूले के लिये रेशम के तकिये सिलते हैं, बगीचे बनाकर उसमें फव्वारा लगाकर विलास करते हैं और अज्ञानभाव से उसमें सुख मानते हैं, परन्तु संसार का विलास, वह विलास नहीं, उस विलास की रुचि तो नरक का कारण है; आत्मा ज्ञानस्वरूप, पुण्य-पाप से निराला है। आत्मा का जो ज्ञान स्वाभाविक विलासरूप है, वह अन्दर ही है, उसे कोई बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती; वह अनादि-अनन्त एकरूप है। उसका भान होने पर उसमें से ही प्रगट आनन्द अवस्था आती है; इसलिए सहजज्ञान स्वयं आनन्द के विलासरूप है।

कैसा है स्वाभाविक ज्ञान अथवा कैसी है आत्मा की ज्ञानज्योति? यहाँ 'ज्ञानज्योति' ऐसा किसलिए कहते हैं? ज्योति कहने का कारण यह है कि अग्नि की ज्योति, चन्द्र की ज्योति इत्यादि सभी ज्योति को जाननेवाली यह ज्ञानज्योति ही है। आत्मा का स्वभाव अर्थात् कि यह ज्ञानज्योति ही ऐसी है कि उसका सच्चा भान होने पर उल्टी मान्यतारूप अन्धकार का वह नाश ही करती है। सहजज्ञान का चारित्र त्रिकाल एकरूप ध्रुवरूप आत्मा में पड़ा है। अवस्था प्रगट होती है, वह चारित्र अलग उत्पाद (पर्यायरूप) है।

आत्मा नित्य है, वह मरता या जन्मता नहीं। शरीर भी जन्मता या मरता नहीं। जन्म-मरण वह तो मान्यता है; शरीर का संयोग होना, वह जन्म और शरीर का वियोग होना, वह मरण, ऐसा माना जाता है परन्तु जैसे एक मनुष्य एक जगह से दुकान दूसरी जगह बदलता है, इसलिए वह मनुष्य मरा नहीं कहलाता; उसी प्रकार आत्मा एक शरीर के संयोग से छूटकर दूसरी जगह जाता है, इसलिए कहीं आत्मा मरा नहीं कहलाता।

(अनुष्टुप्)

सहज-ज्ञान-साम्राज्य-सर्वस्वं शुद्ध-चिन्मयम्।
ममात्मानमयं ज्ञात्वा निर्विकल्पो भवाम्यहम्।।२२।।

चैतन्यमूर्ति आत्मा का स्वरूप जड़ में-पर में नहीं, परन्तु उसका सहजज्ञान साम्राज्य अन्दर है। आत्मा का पर से निराला ज्ञानमूर्ति स्वरूप, वह स्वराज्य है—उसे कोई लूट नहीं सकता और आत्मा किसी को दे नहीं सकता। बाहर का स्वराज—धूल का स्वराज तो पुण्य के कारण से मिलता है, पुण्य के अतिरिक्त वह स्वराज किसी को मिलता नहीं या कोई ले नहीं सकता; परन्तु आत्मा का स्वराज तो आत्मा में ही है और आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान से वह प्राप्त हो सकता है। आत्मा के भान बिना पर का स्वराज लेने की मूढ़ता नहीं टलती। आत्मा ज्ञानमूर्ति है, ऐसे स्वरूप का भान, वह आत्मा का स्वराज है। जड़ को अपना मानना, वही चौरासी में भटकने का और पराधीनता के दु:ख का कारण है। 'ओहोहो! मेरा राज्य मेरे पास ही है, ऐसा जानकर मैं मेरे स्वरूप में ही स्थित रहना चाहता हूँ, मैं किसी को समझा नहीं सकता। मैं ही मुझे समझता हूँ।' ऐसा समझकर धर्मी जीव विकल्परहित होकर अन्दर स्थिर होना चाहता है, वही स्वाधीनता और सुख है।

यह अधिकार ज्ञान का है; ज्ञान की मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल, ये पाँच सम्यक् अवस्थाएँ हैं तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि, ये तीन उल्टी अवस्थाएँ हैं, परन्तु कारणरूप ज्ञान उपयोग तो एकरूप है, उसके यह भेद नहीं, वह तो त्रिकाल स्वरूपरूप एकरूप है। इस प्रकार गाथा ११-१२ में ज्ञानोपयोग के भेदों का स्वरूप कहा।

गाथा-१३

अब १३वीं गाथा में दर्शन उपयोग के भेद कहते हैं।

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं।।१३।।

तथा दर्शनोपयोगः स्वस्वभावेतरविकल्पतो द्विविधः।
केवलमिन्द्रियरहितं असहायं तत् स्वभाव इति भणितः।।१३।।

यह बात बहुत सूक्ष्म है। आत्मा में एक दृष्टा शक्ति है, उसे दर्शन कहा जाता है। ज्ञानावरणीय कर्म के निमित्त से रुका, वह ज्ञान और दर्शनावरणीय कर्म के निमित्त से रुका, वह दर्शन—ऐसा कहा जाता है। वास्तव में जीव जब अपने उल्टे पुरुषार्थ से रुकता है, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है।

ज्ञान का जानने का स्वभाव है, वह आत्मा को जानता है, दर्शन को जानता है, सब गुणों को जानता है, विकारी पर्याय को जानता है, हीन पर्याय को जानता है, पूर्ण पर्याय को भी जानता है, ऐसे सब प्रकार से ज्ञान जानता है। दर्शन अर्थात् जानने से पहले आत्मा का व्यापार होता है, वह दर्शन उपयोग है, वह सब आत्मा को हो रहा है। अन्दर आत्मा में स्व को और पर को जानने का व्यापार (ज्ञानोपयोग) होता है, उसके पहले आत्मा का अन्दर चैतन्य व्यापार, वह दर्शन उपयोग है।

दर्शन उपयोग और ज्ञान उपयोग, वह आत्मा का चैतन्य व्यापार है। उसमें ज्ञान उपयोग के भेद गाथा १२ में कहे। अब दर्शन उपयोग के दो भेद हैं। १—स्वभावदर्शन -उपयोग और २—विभावदर्शन उपयोग। इन्द्रियाँ और मन के निमित्त बिना जो अकेले आत्मा से ही होता है, वह स्वभावदर्शन उपयोग है। 'लकड़ी है' ऐसी लकड़ी पर नजर जाती है अथवा कोई बोले, वह शब्द सुनने की ओर लक्ष्य जाता है, वह तो ज्ञान का व्यापार है; ज्ञान अपने से जानता है, लकड़ी पर लक्ष्य करता है, अगर कोई बोले तो उस पर लक्ष्य जाता है, इसलिए ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है, परन्तु अन्दर आत्मा में आत्मा से ज्ञान होता है। किसी ने बोले हुए 'लकड़ी' ऐसे शब्द पर ज्ञान का लक्ष्य जाने से पहले आत्मा का जो चैतन्य व्यापार होता है, वह दर्शन उपयोग है। दर्शन कहने से यहाँ

सम्यग्दर्शन का व्यापार नहीं समझना। सम्यग्दर्शन तो आत्मा के श्रद्धागुण की पर्याय है, और यहाँ आत्मा के दर्शनगुण के व्यापार की बात चलती है।

जानने के बहुत भेद लिये थे, वैसे दर्शन के भी बहुत भेद हैं। पहले कहा था कि दर्शन में भेद नहीं हैं; और वापस दर्शन के भेद लेते हैं। यद्यपि दर्शन उपयोग में बहुत प्रकार नहीं हैं, परन्तु ज्ञान से पहले दर्शन का व्यापार होता है, इसलिए जितने ज्ञान के प्रकार पड़ते हैं, उतने दर्शन के प्रकार लिये हैं। उपयोग प्रत्येक जीव को समय-समय हो रहा है, तथापि उसकी खबर नहीं, और 'एकली उज्जड गामनी भरी' उसके जैसा जीव ने किया है। एक किसान एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहा था, बीच में उज्जड़ गाँव आया, वहाँ खाली जमीन पड़ी हुई थी, किसान उसे मापने लगा कि कितने हाथ है। गाँव में आकर दूसरे से उस जमीन के माप की बात की तो उसे पूछा कि वह जमीन तुझे लेनी है या दूसरे को? (क्योंकि लेने का विचार हो, तब माप करे न?) परन्तु वह किसान तो कहे—किसी को लेना नहीं, मैं तो व्यर्थ में माप कर आया। उसी प्रकार आत्मा को समझे बिना स्वयं पर का सब भर आया। जगत के लोग अपने आत्मा का व्यापार अन्दर क्या है, उसे मापते नहीं और संसार का दूसरा माप निकालना हो तो तैयार! परन्तु जिसके योगफल में शून्य और शुरुआत में भी शून्य, उसका माप कर-करके अनन्त काल निकाला, तथापि उसका ही मापा करता है, परन्तु आत्मा क्या वस्तु है, उसका सच्चा माप नहीं निकालता, यही महान भूल है।

आत्मा का माप किस प्रकार हो-वह यहाँ कहा जाता है। आत्मा के अन्दर दो प्रकार के उपयोग हैं, १—दर्शन उपयोग, २—ज्ञानोपयोग; उसमें ज्ञान उपयोग की बात तो की। अब दर्शन उपयोग की बात चलती है। जानना, वह तो विशेष उपयोग (ज्ञान) है, जानने से पहले सामान्य उपयोग होता है, वह दर्शन उपयोग है; दर्शन में भेद नहीं होते, परन्तु ज्ञान में भेद पड़ते हैं, इसलिए दर्शन में भी भेद लिये हैं। दर्शन अर्थात् देखने का भाव; आँख से देखना, वह दर्शन नहीं। 'यह रूप है', ऐसा ज्ञात हो, वह तो ज्ञान हो गया, परन्तु 'यह रूप है', ऐसा उसे जानने से पहले आत्मा का व्यापार, वह दर्शन उपयोग है, उसके स्वभाव दर्शन उपयोग और विभाव दर्शन उपयोग, ऐसे दो भेद हैं। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को भेदरूप जानने का है; अपने को, पर को, शुद्धता को और

राग को स्व-पर के भेद से जानने का उसका स्वभाव है। दर्शन में दो भेद नहीं होते। यह सब जाने तो आत्मा की महिमा आवे और सच्चे ज्ञान द्वारा आत्मा का माप हो।

ओहोहो! क्या वस्तुस्वरूप है! लोगों को धर्म करना है, परन्तु धर्म कहाँ है, उसकी खबर नहीं, समझ नहीं। आत्मा स्वयं एकरूप वस्तु है। उसकी शुद्धपर्याय, वही धर्म है। जितने सिद्ध भगवान हुए, वे कोई पुण्य-पाप की क्रिया से नहीं हुए परन्तु आत्मा में से ही वह पर्याय प्रगट कर हुए हैं। उल्टी मान्यतारूप संसार भी आत्मा में ही था, और सच्चा भान करके निर्मल पर्याय भी आत्मा में से ही प्रगट हुई।

आत्मा में देखने का त्रिकाली स्वभाव है, उसके दो भेद हैं:—एक स्वभाव दर्शन उपयोग, दूसरा विभाव दर्शन उपयोग। स्वाभाविक दर्शन, वह तो देखना स्वभाव है, उस स्वभाव दर्शन उपयोग के दो भेद हैं। १— कारणस्वभाव दर्शन उपयोग और २—कार्यस्वभाव दर्शन उपयोग।

अब कारणस्वभाव दर्शन उपयोग का स्वरूप कहते हैं :—यहाँ अन्तर इतना है कि जो दर्शन उपयोग है उसे, और कारणदृष्टि जो एक ध्रुवरूप-श्रद्धारूप त्रिकाल स्वभाव है (कि जिसके ऊपर नजर लगाने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है), उन्हें एक लिया है। आत्मा का (देखने का) ध्रुवरूप समयमात्र अविचल शाश्वत् दर्शन व्यापार है।

कारणस्वभावदृष्टि अर्थात् क्या? जो श्रद्धागुण त्रिकाल है, वह गुण नहीं, परन्तु उसका वर्तमान व्यापार—अन्दर एकरूप ध्रुवरूप है, उसे यहाँ श्रद्धारूप लिया है। श्रद्धा कहने से सम्यग्दर्शन पर्याय नहीं परन्तु जो दर्शन उपयोग एकरूप सामान्य है, उसे श्रद्धारूप वर्णन किया है और उसमें यह कारणस्वभावदृष्टिरूप सामान्य डाला है, दोनों सामान्य को अभेदरूप वर्णन किया है। यह कहीं केवली भगवान को नहीं समझाते परन्तु अज्ञानी को समझाने के लिये कहते हैं। यह समझे बिना धर्म होगा नहीं, यह कहकर धर्म (वस्तु का स्वरूप) किस प्रकार है, यह समझाते हैं।

आत्मा में दर्शनगुण है। जब अपने उल्टे पुरुषार्थ से अपने कारण से दर्शन की पर्याय रुकती है, तब दर्शनावरणीय कर्म निमित्तरूप कहलाता है, परन्तु यहाँ तो कर्म की अपेक्षा से पार दर्शन का एकरूप ध्रुव व्यापार, उसे कारणस्वभावदृष्टि कहा है।

कारणस्वभावदृष्टि अर्थात्—आत्मा में श्रद्धागुण है, वह नहीं। सम्यक्श्रद्धा या मिथ्याश्रद्धा, यह दो उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें हैं, वे भी नहीं, 'मैं दर्शन हूँ', ऐसा विकल्प उठता है, वह राग है—वह भी नहीं और चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन इत्यादि अवस्था है, वह भी नहीं, परन्तु इन सबको छोड़कर दर्शन का निरपेक्ष कायमी व्यापार, वह कारणस्वभावदृष्टि है। कारणरूपदृष्टि श्रद्धाभाव है, वह निजरूप अपने को ही देखती है, उसमें उत्पाद-व्ययरूप व्यापार नहीं है, तथापि वह ध्रुवरूप पर्याय है।

शरीर को आत्मा माने या पुण्य-पाप को अपना स्वरूप माने, वह अज्ञान है—वह नहीं, 'मैं दर्शन हूँ' ऐसा विकल्प उठे, वह नहीं और चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन आदि अवस्था के भेद, वे भी नहीं परन्तु एकरूप दर्शन (दृष्टाशक्ति), उसकी जो एकरूप ध्रुवरूप दृष्टि, वह कारणदर्शनोपयोग है। जैसी आत्मा की श्रद्धा एकरूप ध्रुवरूप वर्तमान है, वैसा त्रिकाल दर्शन उपयोग एकरूप ध्रुवरूप वर्तमान है। आत्मा का श्रद्धागुण और दर्शनगुण अभेददृष्टि में एकरूप लिया जाता है।

आचार्यदेव स्वयं कहते हैं कि 'यह ब्रह्ममय उपदेश किया है' आत्मा सहज त्रिकाली एकरूप; द्रव्य-गुण-पर्याय, वे भी एकरूप; श्रद्धा भी एकरूप और उसका वर्तमान उपयोग भी ध्रुवरूप त्रिकाल एकरूप-ऐसा सब ध्रुवरूप से एकरूप है, वह स्वरूप यहाँ बताया है। यह प्रथम की बात है, शुरुआत का ऐकड़ा है। जिसने यह कभी सुना भी न हो और कहीं बाहर में धर्म माना हो, उसे इस बात की क्या खबर पड़े?

यह एकरूप ध्रुव त्रिकाली निरपेक्ष उपयोगरूप कारणदृष्टि सदा पवित्ररूप है; परम उपयोग त्रिकाल पवित्र है। अपवित्रता टलकर पवित्र होना, वह तो अपेक्षित पर्याय में है। जैसे स्फटिक में स्वच्छता सदा भरी है, वैसे आत्मा में एकरूप उपयोग सदा पवित्ररूप ही है, कारणदर्शनोपयोग और कारणश्रद्धाउपयोग यह दोनों सदा पवित्ररूप उपयोग है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसका दर्शनोपयोग त्रिकाल है, उसका वर्णन चलता है। 'मैं दर्शन हूँ, पुण्य-पाप नहीं'—ऐसा विकल्प, वह राग है। उदयभाव, वह आत्मा का स्वभाव नहीं परन्तु क्षणिक नया प्रगट होता भाव है, उसके लक्ष्य से स्वाभाविक दृष्टि पकड़ में नहीं आती। उपशम समकित के लक्ष्य से भी परमस्वभाव अगोचर है;

क्षयोपशमभाव के लक्ष्य से भी अगोचर है, क्योंकि उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक, ये चारों भाव निमित्त की अपेक्षा रखकर प्रगट होते हैं; इसलिए इन भावों को आत्मा का विभाव स्वभाव* कहा है। यहाँ तो अकेला सहजस्वभावी त्रिकाल निरपेक्षभाव है, वह कहना चाहते हैं। यह उदयादि चारों भाव विभावस्वभावरूपभाव हैं, क्योंकि ये भाव पर की अपेक्षावाले हैं। पर की अपेक्षावाला जो भाव, वह स्वभावभाव नहीं है।

पारिणामिकस्वभावभाव पारिणामिकभाव से नहीं ज्ञात होता परन्तु उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकभाव द्वारा वह ज्ञात होता है-लक्ष्य में आता है, परन्तु वह उपशम इत्यादि भाव जितना वह पारिणामिकभाव नहीं है। उपशम आदि तो अपेक्षित भाव हैं और पारिणामिकभाव तो निरपेक्ष त्रिकाली भाव है—ऐसे पारिणामिकभाव का माहात्म्य करने के लिये उपशम इत्यादि चारों भावों से वह अगोचर है, ऐसा यहाँ कहा है।

जैसे बालक नया जन्में, उसे अपने जन्म से पहले क्या चलता हो, उसकी खबर नहीं पड़ती; उसी प्रकार आत्मा में क्षायिकभाव-केवलज्ञान-पर की (-कर्म की अभाव की) अपेक्षावाला ज्ञान सादि-अनन्त है, वह नया प्रगट होता है और अन्दर निरपेक्ष तत्त्व एकरूप सहजस्वरूप है, वह त्रिकाल—अनादि-अनन्त है—उस निरपेक्षस्वभावभाव का माहात्म्य बतलाने के लिये, केवलज्ञान को भी उसकी खबर न पड़े, ऐसा यहाँ कहने में आया है अर्थात् कि केवलज्ञान के लक्ष्य से केवलज्ञान प्रगट नहीं होता, ऐसा समझाया है। केवलज्ञान क्षायिकभाव है, वह अशुद्धता के नाश से प्रगट होता है; इसलिए उसे भी अशुद्धता के नाश की अपेक्षा आयी है; यहाँ वह अपेक्षित भाव नहीं बतलाना है परन्तु एकरूप सत् पारिणामिकस्वभाव-निरपेक्षस्वभावभाव, वह यहाँ बतलाना है।

सम्यग्ज्ञानदीपिका में, 'जिसे बहिरात्मा, अन्तरात्मा या परमात्मा न जान सके, ज्ञानी, अज्ञानी, कोई न जान सके, वह मैं हूँ'—ऐसा कहा है, उसका आशय यह है कि निरपेक्षस्वभाव में ज्ञानी-अज्ञानी या अन्तरात्मा, बहिरात्मा, परमात्मा—ऐसे किसी प्रकार के पहलू नहीं हैं, वह तो निरपेक्ष सदा एकरूप है; कोई अपेक्षावाले भाव उसे नहीं जाने, ऐसा कहकर निरपेक्ष तत्त्व की महिमा की है।

* विभाव स्वभाव=विशेष भाव; अपेक्षित भाव।

लोगों को ऐसा लगता है कि इसमें कुछ करने का तो नहीं आया? परन्तु इसमें सच्ची समझ करने का आया है, वही करना है। यह बात समझने में कितनी मेहनत (पुरुषार्थ) है! अनन्त सुलटा पुरुषार्थ एक-एक बात समझने में आता है। यह समझे बिना कोई सौ उपवास कर डाले तो भी आत्मा नहीं पहिचाना जाता। तो फिर यह समझने में मेहनत है या उपवास करने में? सच्ची समझ करने में बहुत पुरुषार्थ है। इस वस्तु की सच्ची समझ महँगी है। इसमें गहरे उतरे बिना मस्तिष्क काम करे, ऐसा नहीं है। अज्ञानी सच्ची समझ की गिनती नहीं करते, और उपवासादि जो अनन्त बार सच्ची समझ बिना कर चुका, उसकी गिनती करते हैं, क्योंकि वह अनादि की बैठी हुई बात है, परन्तु आत्मा का धर्म क्या है, यह बात कभी बैठी नहीं। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, वह बाहर में नहीं है, यह बात बैठाना लोगों को मुश्किल पड़ती है। परन्तु जब तक यह बात न बैठे, तब तक धर्म नहीं होता।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल शक्तिरूप पूर्ण है, वह स्वभावभाव है, और क्षायिक आदि चारों भाव विभावस्वभाव है। जब अशुद्धता का व्यय हो, तब क्षायिक भाव का उत्पाद होता है—इससे वह त्रिकाल एकरूप भाव नहीं है। यहाँ तो कहा है कि सत् त्रिकाल एकरूप वर्तता है, ऐसा स्वभावभाव, वह क्षायिकभाव से भी अगोचर है, क्योंकि वह क्षायिकभाव जितना नहीं; इसलिए उसका माहात्म्य बतलाने को क्षायिकभाव से भी वह ख्याल में आवे नहीं, ऐसा कहा है। यह कहने का आशय ऐसा है कि उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षायिक, इन चार भावों के लक्ष्य से भेद का विकल्प आता है, इसलिए उसकी अपेक्षा (लक्ष्य) छोड़ दे, उनके लक्ष्य से राग रहेगा और स्वभाव ज्ञात नहीं होगा। उन चारों की ओर का विकल्प टूटने से ध्रुव एकरूप पंचमभाव है, वह ज्ञात होगा, ऐसा ही स्वभाव है—दूसरा कोई स्वभाव नहीं है।

★★★★★

व्याख्यान नं. १४, दिनांक ०३-०५-१९४४, बुधवार

गाथा १३ चालू।

अधिकार मूल मक्खन का है। न समझ में आये तो सुनना। कितनों को तो जिन्दगी में यह शब्द भी कान में न पड़े हों, ऐसा सूक्ष्म है—ऊँचा है। सूक्ष्म पड़े परन्तु ना नहीं करना। पिता ने अपना उत्तराधिकार कभी कहा न हो, इसलिए लड़के को खबर नहीं हो, परन्तु जब पिता उत्तराधिकार कहे, तब ऐसा नहीं कहता कि तुमने यह बात तो कभी कही नहीं, इसलिए आज में नहीं सुनूँगा या नहीं मानूँगा, परन्तु वहाँ तो उसकी रुचि है, इसलिए सुनता है और वैसा मानता है; इसी प्रकार यहाँ सर्वज्ञ भगवान का अन्तरपेट (अभिप्राय) कहा जाता है। परिपूर्ण आत्मस्वरूप का उत्तराधिकार सर्वज्ञ भगवान बताते हैं, उसकी ना नहीं करना, परन्तु अन्तर में रुचि और हकार लाकर सुनना। पूर्ण स्वरूप की महिमा बतायी जाती है, उसमें कुतर्क काम आवे, ऐसा नहीं है; शब्द रटने से आवे, ऐसा नहीं है; मन से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। ऐसे सहजस्वभाव की बात आचार्यदेव रखते हैं। पहले ही आचार्यदेव ने कहा है कि मैंने यह ब्रह्ममय उपदेश किया है, इसलिए यह अन्तर्दृष्टि बिना पकड़ में नहीं आयेगा। यह अन्तर में 'है' उसकी बात है। 'नहीं' उसे कोई कहे नहीं। अन्दर वस्तु है, उसकी व्याख्या-उसका स्वरूप कहा जाता है। सत् तो तीनों काल एकरूप है। धर्म सत्रूप है, उसे समझे तो आदर हो। समझे बिना सत् का सच्चा स्वीकार या महिमा नहीं होती।

देखो! अब कारणस्वभावदर्शनोपयोग का स्वरूप कहते हैं। आत्मा में अनन्त गुण हैं; उसमें जो जानता है, वह ज्ञानगुण है, उसमें सामान्य-विशेष दोनों ज्ञात होते हैं। दूसरा दर्शनगुण है, उसका व्यापार सामान्य को देखता है। दर्शन उपयोग का अर्थ उत्पादरूप परिणाम अर्थात् वर्तमान व्यापाररूप भाव, ऐसा यहाँ नहीं लिया, परन्तु आत्मा वस्तु और दर्शनगुण तो त्रिकाल है और उस दर्शनगुण का वर्तमान व्यापार, वह भी ध्रुव एकरूप बदले बिना रहनेवाला है, वह दर्शन उपयोग यहाँ लिया है। सम्यग्दर्शन तो श्रद्धागुण की पर्याय है, परन्तु वह यहाँ कहना नहीं; परन्तु श्रद्धा नामक त्रिकाली गुण की ध्रुव पर्याय और इस दर्शन का ध्रुवरूप व्यापार, दोनों अभेद है, वह यहाँ कहना है।

यह तो अमृत है, आचार्यदेव ने सर्वज्ञ वीतराग के पेट का अमृत प्रवाहित किया है, ऐसी बात जंगल में विचरते निर्ग्रन्थ सन्त-मुनि किसी समय ही खुल्ली रखते हैं, लोक के महाभाग्य से यह बात बाहर आयी है।

दर्शन त्रिकाली गुण है। उसके उपयोग में स्वभाव दर्शन उपयोग और विभाव दर्शन उपयोग ऐसे दो प्रकार हैं तथा स्वभाव दर्शन उपयोग के दो प्रकार हैं; १— कारणस्वभावदृष्टि, २— कार्यस्वभावदृष्टि। श्रद्धा करना, वह तो सम्यग्दर्शन है—वह पर्याय है, उसे यहाँ नहीं लेना। शरीर, मन, वाणी या राग-द्वेष, वह तो आत्मा ही नहीं है। जो केवलदर्शन प्रगट होता है, वह भी कार्य है; उसके कारणरूप एक दर्शन उपयोग त्रिकाल एकरूप सामान्य है और श्रद्धागुण भी सामान्य है, इन दोनों को सामान्यरूप से एक ले लिया है। दर्शन उपयोग, वह आत्मा का निजरूप है, वह एक प्रकार से अवस्था होने पर भी ध्रुव और अक्रिय है। बन्ध-मोक्ष की सभी पर्याय तो सक्रिय (उत्पाद-व्ययरूपी क्रियासहित) है, वह व्यवहारक्रिया है, मोक्षपर्याय भी क्रिया है और यह (दर्शन उपयोग) तो अक्रिय ध्रुव वस्तु है—अविचल है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भी चल है। केवलज्ञान भी चल है अर्थात् कि एक समयमात्र की बदलती अवस्था है। आत्मा का दर्शन उपयोग निजरूप सदा ही पवित्र है, वह उपयोगरूप ध्रुवपर्याय चार विभावस्वभावरूप पर्यायों से अगोचर है। उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक, इन चार पर्यायों को यहाँ 'विभावस्वभावरूप पर्याय' कहा है।

उदय—कर्म के निमित्त से आत्मा में विकारभाव होता है, वह उदयभाव है, उससे दर्शन उपयोगरूप निरपेक्ष पर्याय पकड़ में नहीं आती। यद्यपि उदय की अवस्था प्रवाह से अनादि से चली आती है, परन्तु वह अवस्था तो एक समयमात्र की ही है। उस विकारी पर्याय के आश्रय से त्रिकाली ध्रुवद्रव्य पकड़ में नहीं आता।

उपशम—आत्मा के पुरुषार्थ से कर्म का प्रगटरूप फल न आना, वह उपशम है। उसकी अवस्था एक समय में एक ही होती है, उपशमभाव भले असंख्य समय तक चले, परन्तु उसकी प्रगटरूप पर्याय तो एक समय में एक ही होती है। समय-समय में बदलकर असंख्य समय चलती है। विकारी पर्याय या निर्मल पर्याय एक समयमात्र की ही है। उपशम सम्यग्दर्शन या चारित्र भी एक समय की ही पर्याय है। उपशम का काल

असंख्य समय है, परन्तु वर्तमान तो एक समय में एक ही पर्याय प्रगट होती है। जैसे कोई माला फेरता हो, उसके हाथ में एक समय में माला का एक ही मणका रहता है, फिर एक-एक मणका फिराकर कोई आधी माला फेरे या कोई पूरी फेरे। उसी प्रकार विभाव भले अनादि का है, परन्तु समय में तो एक ही पर्याय प्रगट होती है; उसी प्रकार विशुद्धि की प्रगटरूप पर्याय भी एक समय में एक ही होती है; समय-समय करके भले अनन्त काल लम्बाये।

लोग कहते हैं कि इसमें क्रिया उड़ती है। परन्तु यह समझने में क्रिया नहीं आती होगी? समझने की अपूर्व क्रिया इसमें आती है। उसमें एक घण्टे एकाग्र हो तो ऐसा ऊँचा पुण्य बँध जाता है कि जगत में किसी जगह वैसा पुण्य नहीं होता और जो समझे, उसका तो कहना ही क्या!

देखो! यह लकड़ी है, उसका बाहर का आकार (व्यंजनपर्याय) ऐसा का ऐसा दिखता है, तथापि समय-समय में वह अपनी अवस्था बदलती ही है। स्थूलदृष्टि से लकड़ी ऐसी की ऐसी लगती है, परन्तु उसकी अवस्था प्रत्येक समय में बदलती है। द्रव्य-गुण तो ध्रुव पड़े हैं, और उसकी अवस्था एक समय की ही प्रगट है। दूसरे समय में दूसरी अवस्था आती है। छद्मस्थ का उपयोग असंख्य समय का है और सामने परमाणुओं का स्कन्ध, (लकड़ी) भी असंख्य समय स्कन्धरूप टिकी रहती है, इसलिए एकरूप रहता हो, ऐसा भ्रम अज्ञान के कारण हो गया है। यहाँ क्षणिक पर्याय का लक्ष्य छुड़ाकर त्रिकाली द्रव्य का लक्ष्य कराते हैं। पर्याय के ऊपर लक्ष्य जाये तो द्रव्य की शुद्ध पर्याय प्रगट नहीं होती। यदि उपशम का लक्ष्य रहे तो अन्दर का स्वभाव समझ में नहीं आता। अन्दर कायम जो सत् त्रिकाल एकरूप है, उस ओर ढला, तब उपशम कहलाया; इस प्रकार यद्यपि उपशमभाव से स्वभाव का लक्ष्य हो सकता है परन्तु त्रिकाली स्वभाव का माहात्म्य दर्शाने के लिये उस उपशम से भी अगम्य है, ऐसा कहा है।

अवस्था में से अवस्था नहीं आती, परन्तु वस्तु में से आती है। अखण्ड वस्तु खण्ड के (पर्याय के) आश्रय से लक्ष्य में नहीं आती; उपशम इत्यादि खण्डरूप है, एक समयमात्र की पर्याय है। उस पर लक्ष्य जाने से पूरा द्रव्य ख्याल में नहीं आता; इसलिए उपशम-क्षयोपशम इत्यादि से अगोचर है, ऐसा कहा है।

क्षयोपशम—आत्मा के पुरुषार्थ से गुण का आंशिक उघाड़ हुआ, वह क्षयोपशम है। क्षयोपशमभाव वर्तमान तो एक समयमात्र का ही है। क्षयोपशम की स्थिति बहुत काल की है, परन्तु उसकी प्रगट अवस्था तो एक समयमात्र की है। उसके लक्ष्य से (उस ओर के विकल्प से) त्रिकाली स्वभाव प्रगट नहीं होता।

क्षायिक—क्षायिकभाव के लक्ष्य से भी वस्तु अगोचर है, क्योंकि जिसे केवलज्ञान हो गया है, उसे तो समझने का रहा नहीं; निचलीदशा में तो क्षायिकभाव है नहीं; जो नहीं, उस पर झुकाव करना, वह तो विकल्प है, तथा क्षायिक समकित भी प्रगटरूप तो एक समयमात्र ही है, उसके लक्ष्य से स्वभाव लक्ष्य में नहीं आता; इसलिए कहा कि आत्मवस्तु क्षायिक से भी अगम्य है।

केवलज्ञान तो वर्तमान वर्तता नहीं, तो उसके ऊपर लक्ष्य किस प्रकार करना? वर्तमान में तो अभावरूप है, उसका लक्ष्य किस प्रकार हो? छद्मस्थ को उपशम-क्षयोपशमभाव वर्तता हो परन्तु वह हीन पर्याय है, उसके प्रति लक्ष्य से राग आता है, और क्षायिक तो है नहीं; तब है क्या? कि द्रव्य एकरूप सत् त्रिकाल पड़ा है। नित्य एकरूप, द्रव्य-गुण और त्रिकाली ध्रुवपर्याय से अभेदरूप है, ऐसे परमपारिणामिकस्वभाव के ऊपर लक्ष्य जाने से, जो वर्तमान प्रगट हुआ, उसका लक्ष्य नहीं रहता तथा क्षायिकभाव प्रगटेगा, उसका भी विकल्प नहीं होता। अकेले ध्रुव का ही आश्रय है।

क्षायिक तो वर्तमान है नहीं तो 'जो नहीं है, उसका लक्ष्य' किस प्रकार करना? जब समझने की ओर झुका, तब क्षायिकभाव तो होता नहीं। जो न हो, उसमें एकाग्र किस प्रकार होना? तथा 'क्षायिक प्रगट होगा' ऐसा विचार करे, तो जो नहीं है, उसके विकल्प में राग आता है।

तब क्या करना? यह कहते हैं :—

आत्मा त्रिकाल वस्तु, उसके गुण और उसकी अरूपी पारिणामिक क्रिया (वह अन्तरंग क्रिया है, बाहर में तो अक्रिय है)—वह एकरूप पड़े हैं, उसके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षायिक के लक्ष्य से राग आता है। उसमें भी क्षायिक तो वर्तमान प्रगट है नहीं, इसलिए अन्दर जो अविचल ध्रुव

एकरूप स्वभावभाव पड़ा है, उसका ही लक्ष्य करनेयोग्य है। उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक, इन चारों को विभावस्वभाव कहा है, क्योंकि इन चारों में पर की अपेक्षा आती है; उसमें भी क्षायिक तो वर्तमान है नहीं और दूसरे तीन एक समयमात्र के हैं, उनके लक्ष्य से राग आता है। इसलिए कहा कि परमपारिणामिकस्वभाव चार विभाव स्वभावरूप भावों से अगोचर है। सहज परमपारिणामिकभाव को ही गम्य है। यद्यपि क्षायिकभाव से कहीं अगोचर नहीं, परन्तु क्षायिक वर्तमान में नहीं है और 'नहीं' उसके लक्ष्य से सत् उघड़ता नहीं, इस अपेक्षा से क्षायिक से भी अगोचर है, ऐसा कहा है।

मूल स्वभाव तो तीनों काल एकरूप है, उसे कोई अपेक्षा ही लागू नहीं पड़ती। मोक्ष या क्षायिकभाव, वह सब व्यवहारनय का विषय है। जो क्षायिक अवस्था प्रगटे, वह अन्दर शक्ति हो तो प्रगटे या न हो तो? अन्दर जो सदृश एकरूप द्रव्य पड़ा है, उसके जोर से ही क्षायिकदशा प्रगट होती है। पीपर घिसने से उसमें से जो चरपराहट प्रगट होती है, वह पत्थर में से नहीं आती, परन्तु अन्दर चौंसठ पहरी चरपराहट कायम भरी है, वही प्रगट होती है; उसी प्रकार आत्मा में निर्मल पर्याय प्रगटी, वह तो व्यवहार है, परन्तु वह निर्मल पर्याय आयी कहाँ से? किसके जोर से प्रगटी? अन्दर त्रिकाल है क्या? त्रिकाल स्वभाव की दृष्टि और उसकी स्वरूप श्रद्धा, वह त्रिकाल ध्रुव है। विकास होना, वह तो पर्याय में है।

यह आत्मा के दर्शन उपयोग की बात चलती है। दर्शन उपयोग त्रिकाल एकरूप और उसकी श्रद्धा भी त्रिकाल एकरूप है। उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक ये चार भाव तो अपेक्षित हैं। यह दर्शन उपयोग और उसकी श्रद्धा त्रिकाल एकरूप है। सम्यग्दर्शन तो पर्याय है। सम्यक्श्रद्धा या मिथ्याश्रद्धा, वह तो श्रद्धागुण की एक समयमात्र की प्रगट दशा है। स्वरूपश्रद्धा तो त्रिकाल एकरूप है। यहाँ ध्रुव उपयोग लेना है; दर्शन उपयोग ध्रुव और उसकी श्रद्धा भी ध्रुव, दोनों सामान्य हैं। श्रद्धा, वह कायमी भाव है— त्रिकाल है; और सम्यग्दर्शन, वह तो उत्पादरूप दशा है और मिथ्यादर्शन वह व्ययरूप दशा है। उसमें तो अपेक्षा आती है। सम्यग्दर्शन में मिथ्यादर्शन के अभाव की-व्यय की अपेक्षा आती है; श्रद्धा तो कायम एकरूप ध्रुव है।

दर्शन उपयोग परिणमन बिना का एकरूप पर्यायरूप ध्रुव है। वह वर्तमान... वर्तमान

वर्तता है तो भी परिणमन नहीं—ध्रुव कहलाता है। आहा! एकरूप सहजस्वभावभाव है, अकेला वीतरागभाव है, परमपारिणामिकभाव है। ऐसा ही जैनदर्शन का स्वरूप है, वस्तु ही ऐसी है। उदय, उपशम आदि चार विभावस्वभावों से अगोचर है, सहज स्वाभाविक है; मोक्ष इत्यादि तो कृत्रिम है। यह तो सहज... सहज... सहज... परमपारिणामिकभाव है। उसकी श्रद्धा, वह त्रिकाली है। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा, वह अन्दर का दर्शन है। दर्शन उपयोग त्रिकाल एकरूप है, वह कारणशुद्ध आत्मा है और मोक्षपर्याय वह शुद्ध कार्य है।

आत्मा कैसा है, उसकी बात चलती है। अकेला निजस्वभाव की सत्तामात्र भाव है—अस्तित्व कायम है। दर्शनगुण तो कायम है। परन्तु दर्शन उपयोगरूप ध्रुवपर्याय भी कायम है, गुण-पर्याय अभेद है।

किसी बनिया के पास एक चमकदार कीमती मोती था, उसने किसी ग्वाले को बताया और कहा कि 'बहुत ऊँची जाति का पानीदार मोती है, उसके पानी के तेज की झलक की लहरें उठती हैं।' तब मोती की जाति का अनजान ग्वाला कहता है कि मुझे तो कोई पानी दिखता नहीं, यह मेरी पछेड़ी का छोर पानी में डुबोकर दो तो मानूँ। परन्तु भाई! यह तो मोती की चमकती लहरें हैं, नदी के पानी की लहरें नहीं कि उसमें तेरी पछेड़ी डुबोये! यह तो मोती के अन्दर की चमक का पहिचानने की पद्धति है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्यमूर्ति, वह मोती है। उसमें ज्ञान-दर्शन इत्यादि गुण तो त्रिकाल है और उसमें स्वभावपरिणतिरूप चमक, वह भी त्रिकाल है। 'परिणति' कहने पर भी परिणमे नहीं। बोला तो चाहे जैसे परन्तु बोलने के ऊपर देखने जाये, उसे वास्तविक वस्तु नहीं मिलेगी। ('मोती की चमक की लहरें' कहा जाता है, वहाँ लहरें अर्थात् पानी की लहरें नहीं।)

आत्मा वस्तु शाश्वत् है, उसका दर्शन उपयोग शुद्धात्म सत्तामात्र है। एक अवस्था जाये और दूसरी हो, ऐसा उसमें नहीं है परन्तु एकरूप ध्रुव है। अवस्था के ऊपर लक्ष्य से तो विकल्प आते हैं; एकरूप स्वभावभाव निरपेक्ष है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। विषय अर्थात् उस ओर का लक्ष्य, ध्येय। आत्मा का विषय करनेवाली सच्ची श्रद्धा, उसे प्रगट करने का कारण जो 'सम्यग्दर्शन का विषय' वह क्या है? कि नित्य एकरूप शुद्धात्म अखण्ड द्रव्य, अनन्त गुण और एकरूप ध्रुव अखण्ड पर्याय, वह अभेदरूप से

सम्यग्दर्शन का विषय है, वही सच्ची श्रद्धा प्रगट होने का कारण है; उसका लक्ष्य करके उसमें एकाग्र होकर परिणति कृतकृत्य होती है।

दृष्टि अखण्ड देखती है; प्रशस्त राग बीच में आवे, वह अलग विषय है; दर्शन के व्यापार में राग या निमित्त की ओर का झुकाव नहीं है। दर्शन उपयोग तो परमचैतन्यस्वरूप स्वस्वभाव सत्तामात्र है, अकृत्रिम है। सम्यग्दर्शन के पश्चात् चारित्र होता है, वह नयी प्रगटती अवस्था है; स्वरूप की रमणतारूप क्रिया, वह भी कृत्रिम है, क्योंकि केवलज्ञान होने के पश्चात् उसका व्यय हो जाता है। और यह शुद्ध सहजस्वरूपचारित्र, वह तो त्रिकाल एकरूप है, उसकी श्रद्धा भी त्रिकाल एकरूप है, अकृत्रिम परमस्वरूप में निश्चल स्थितिरूप एकरूप शुद्धचारित्रमय है। वस्तु ही ऐसी परम शुद्ध है।

यह दर्शन उपयोग गुण नहीं परन्तु गुण के साथ उसकी अभेद ध्रुवपर्याय है, वह नित्य शुद्ध कर्मांजनरहित (पुण्य-पाप दोनों कर्मांजन हैं, उनसे रहित) त्रिकाल एकरूप निरपेक्ष ज्ञानस्वभाव है। दर्शन, ज्ञान सब अभेद है। नित्य शुद्ध कायम एकरूप है; वह कारणस्वभाव दर्शन आत्मा के शत्रु जो पुण्य-पाप, उनकी सेना की ध्वजा को तोड़ डालनेवाला है। जहाँ ध्वजा टूटी, वहाँ सेना भी चली जाती है। पुण्य-पाप की सेना की ध्वजारूप जो मिथ्यादर्शन, उसे आत्मस्वभाव तोड़ डालता है। आत्मा का स्वभाव सब पुण्य-पाप का नाश करनेवाला है; ऐसे आत्मस्वरूप की श्रद्धामात्र कारणस्वभावदर्शन है।

आत्मा में दर्शनगुण त्रिकाल एकरूप है और उसकी दर्शन व्यापाररूप परिणति, वह ध्रुव अक्रिय है; ऐसे स्वरूप से आत्मा को मानना—उसका लक्ष्य करना, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का लक्ष्य परिपूर्ण ध्रुव वस्तु है; चारित्र की निर्मल वीतरागी क्रिया, वह भी सम्यग्दर्शन का लक्ष्य नहीं है।

यह वस्तु समझे बिना जन्म-मरण नहीं टलते। जैसे ककड़ी की बेल सुखाना हो, वहाँ यदि ऊपर से ककड़ी और पत्ते तोड़ा करे तो बेल सूखेगी नहीं, क्योंकि मूल सुरक्षित है; जब तक बेल का मूल खोजकर तोड़े नहीं, तब तक ककड़ियाँ फला ही करती हैं, पत्ते तोड़े तो फिर नये उग जाते हैं। यदि बेल सुखाना हो तो मूल तोड़ना चाहिए; उसी प्रकार अनन्त काल के जन्म-मरणरूपी विषवृक्ष का मूल क्या है, उसे जानकर उसे छेदन किये बिना जन्म-मरण रुकते नहीं। जन्म-मरण टालने के लिये तो

जन्म-मरण का मूल जो मिथ्यादर्शन, उसे आत्मा की सच्ची पहिचान द्वारा प्रथम टालना चाहिए, उसे टाले बिना जन्म-मरण नहीं टलते। मिथ्याश्रद्धा, वही संसार का मूल है और सम्यक्श्रद्धा, वह केवलज्ञान का मूल है तथा उस सम्यक्श्रद्धा का मूल अखण्ड द्रव्य है। अखण्ड द्रव्य पर जोर करने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। उस सम्यग्दर्शन का विषय सम्यग्दर्शन नहीं और वीतरागदशा भी नहीं, क्योंकि उसमें पर की अपेक्षा आती है। पराश्रित सब व्यवहार है और व्यवहार के आश्रित जीव मिथ्यादृष्टि हैं। निश्चय के आश्रित सम्यग्दृष्टि होता है। श्री समयसारजी (गाथा ११) में कहा है कि :—

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।११।।

अर्थ :— व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है—ऐसा ऋषिश्वरों ने दर्शाया है; जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाल एकरूप निरपेक्ष ध्रुववस्तु है। इस प्रकार कारणस्वभाव दर्शन की व्याख्या पूरी हुई।

★★★★★

व्याख्यान के बाद

आत्मा अन्दर त्रिकाली भगवान स्थित है, इसके अतिरिक्त दूसरे किसे मानना और देखना? दुनिया तो चलती ही जाती है।

व्याख्यान नं. १५, दिनांक ०४-०५-१९४४, गुरुवार

गाथा १३ चालू (पृष्ठ २४, लाईन ४)

कारणस्वभाव दर्शन की व्याख्या हो गयी—उसमें कहा कि आत्मा का दर्शन नाम का त्रिकाली गुण, उसका वर्तमान व्यापार, वह भी ध्रुव है। आत्मा की दृष्टा शक्ति (दर्शनगुण) है, उसका वर्तमान उपयोगरूप व्यापार, वह भी ध्रुवरूप है। आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसके गुण भी त्रिकाल है और गुण की अवस्था भी ध्रुवरूप त्रिकाल है। पारिणामिकभाव की और गुण की अवस्था भी ध्रुव है। दर्शन नाम का त्रिकाल गुण, उसकी वर्तमान परिणति भी ध्रुव है।

आत्मा वस्तु है; वस्तु, गुण तथा गुण की अवस्था (व्यापार), वह त्रिकाल ध्रुव है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन, यह तो अपेक्षित पर्याय है, उसे यहाँ नहीं लिया, परन्तु एक-एक गुण की एक-एक त्रिकाली ध्रुव पर्याय है, उसमें दर्शन गुण की त्रिकाली पर्याय को यहाँ कारणस्वभावदृष्टि कहा है; यह सब विस्तार से कहा जा चुका है।

दूसरी कारणस्वभावदृष्टि है। दर्शनगुण त्रिकाल पड़ा है, उसकी ध्रुव अवस्था भी त्रिकाल पड़ी है, उसके जोर से जो केवलदर्शन प्रगट होता है, उसे कार्यस्वभावदृष्टि कहा है। यहाँ तो वस्तु त्रिकाल एकरूप, उसका दर्शनगुण, वह त्रिकाल; उसकी ध्रुवपर्याय, वह भी त्रिकाल और उसका कारण उपयोग, वह भी त्रिकाल ध्रुव है और कार्यरूप केवलदर्शन है, उसे कार्यस्वभाव दृष्टि कहा है।

अन्दर ध्रुवशक्ति है, उसमें से कार्य प्रगट हुआ है। आत्मा में दर्शनगुण त्रिकाल निर्मल पड़ा है, उसकी श्रद्धा भी त्रिकाल पड़ी है। श्रद्धा का ध्रुवरूप भाव त्रिकाल है। सम्यक्श्रद्धा, वह न्यून कार्य है और केवलदर्शन वह पूर्ण कार्य है, उस कार्य का कारण अन्दर त्रिकाल एकरूप कारणस्वभावदृष्टि है, वह है। अन्दर पूरा कारण है, उसमें एकाग्रता की क्रिया करने से केवलदर्शन प्रगट होता है, वह कार्य है। केवलदर्शन एक समय की अपेक्षित अवस्था है, इसलिए उसे कार्य कहा है।

कार्यस्वभावदृष्टि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय - इन चार घातिकर्मों के नाश से प्रगट होती है। ज्ञानावरणीयकर्म वास्तव में ज्ञानगुण को या ज्ञानगुण की अवस्था को रोकता नहीं है, परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण जब ज्ञान का हीन परिणमन होता है, तब सामने निमित्तरूप से ज्ञानावरणीयकर्म उपस्थित होता है।

अन्दर पूर्ण ध्रुवरूप कारणस्वभाव है, उसके ऊपर दृष्टि जाने से कार्यरूप केवलदर्शन प्रगट होता है; यहाँ केवलदर्शन प्रगट होने का कारण अन्तरंग वस्तु ही कही है। बाहर के पूजा, भक्ति, दया, दान, व्रत या तप इन किसी से आत्मधर्म की पर्याय उघड़ती नहीं है; कार्य का सम्बन्ध कारण के साथ है। बाहर में पर के साथ या किसी विकल्प के साथ नहीं।

श्री तीर्थंकर भगवान को जो केवलदर्शन अवस्था प्रगट हुई, वह केवलदर्शन कैसा है? जैसे केवलज्ञान एक समय में लोकालोक को विशेषरूप से जानता है, उसी प्रकार केवलदर्शन एक समय में लोकालोक को सामान्यरूप से देखता है; प्रथम बाह्यलक्ष्य से जो कर्म का संयोग था, वह अन्तरलक्ष्य होने पर बाहर में कर्म का नाश हो गया।

यहाँ श्रद्धा और दर्शन एक लिये हैं। दर्शन उपयोग त्रिकाल है और श्रद्धा भी त्रिकाल है। श्रद्धागुण त्रिकाल है, उसकी पर्याय का विषय दर्शन नाम का गुण त्रिकाल एकरूप है, कारणस्वभावश्रद्धा, वह त्रिकाल एकरूप है।

यह बात अपरिचय के कारण से नयी लगे, परन्तु आत्मा की अपनी ही बात है, अन्दर आत्मतत्त्व विराजता है, उसकी यह बात है; आत्मा का धर्म बाहर से प्रगट नहीं होता, परन्तु अन्तरस्वभाव की श्रद्धा के जोर से प्रगट होता है।

अन्दर में जो ज्ञान-दर्शनरूप भगवान आत्मा त्रिकाल पड़ा है, उसमें एकाग्र होने से जो शुद्धपर्याय प्रगटे, उसे कार्यस्वभावदृष्टि कहा है।

आत्मा का स्वरूप गुण-पर्याय से अभेदरूप से है। गुणी और गुण में भेद नहीं है, परन्तु ज्ञानगुण जानने की विशेष सामर्थ्यवाला है, इसलिए उसे केवलज्ञान की उपमा दी है।

कैसे हैं परम तीर्थंकरदेव अथवा कार्यपरमात्मा? आवरणरूप घातियाकर्मों का

नाश करके पूर्ण निर्मलदशा जिन्होंने प्रगट की है; सम्पूर्ण कर्मों के नाश से सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान पर्याय की प्राप्ति है, उस केवलज्ञान द्वारा एक समय में तीन काल-तीन लोक के जाननेवाले हैं, उसमें अनन्त जीव उनके गुण-पर्यायसहित आ जाते हैं और अपनी आत्मा भी उसमें आ जाती है। अन्दर कार्यरूप पर्याय के साथ गुण अभेद है, ऐसा ज्ञान बताते हैं। अपने आत्मा में से ही उत्पन्न परमवीतरागरूप—रागरहित निराकुल सुख-अमृत का वह सागर है अर्थात् केवली भगवान को सुखरूपी अमृत का अनन्त आनन्द प्रगट हुआ है। प्रथम पर में राग से सुख माना था, वह मान्यता टली, इसलिए आत्मा का रागरहित निराकुल सुख प्रगट हुआ। और केवली भगवान यथाख्यात नामक कार्यशुद्ध चारित्र के धारक है। यहाँ दर्शनशक्ति के उघाड़ के साथ दूसरे अनन्त गुण अभेद हैं, वे भी उघड़ जाते हैं, यह बतलाया है। केवली भगवान तीन लोक के भव्य जीवों से प्रत्यक्ष वन्दनीय हैं।

सद्भूतव्यवहारनय से निर्मल अवस्था प्रगटी है, निश्चय से तो द्रव्य तीनों काल एकरूप शुद्ध ही है। केवलज्ञान, केवलदर्शन इत्यादि पर्याय है, पर्याय का भेद किया, इसलिए व्यवहार और वह पर्याय शुद्ध होने से सद्भूतव्यवहार कहा है। और त्रिकाली स्वभाव, वह निश्चय है। केवलज्ञान भी एकसमयमात्र की अवस्था है। केवलज्ञान की भी दो समय की पर्याय इकट्ठी नहीं होती, एक पर्याय व्यय हो, तब दूसरी प्रगट होती है। अपेक्षित पर्याय एक समय में एक ही होती है; और निरपेक्षद्रव्य तो त्रिकाल एकरूप है।

आदिसहित और अन्तरहित ऐसा अतीन्द्रिय अमूर्तिक स्वभाव प्रगट हुआ, ऐसा कहना, वह शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय है। केवलज्ञान नहीं था और प्रगट हुआ, इसलिए आदिसहित है और अनन्त काल ऐसा का ऐसा निर्मलरूप से टिका रहेगा, इसलिए अन्तरहित है। केवलज्ञान नहीं था और प्रगट हुआ, ऐसा भेद पड़ा, इसलिए व्यवहार है और आत्मा की अपनी पर्याय है; इसलिए सद्भूतव्यवहार है। केवलज्ञान और सिद्धपद प्रगट हुआ है, वह भी व्यवहार है। द्रव्य तो अन्दर त्रिकाल एकरूप पड़ा ही है, वह निश्चय है। कीमती तो निश्चय ही है, निश्चय के जोर से व्यवहार सहज आ जाता है। जहाँ केवलज्ञान इत्यादि को सद्भूतव्यवहार कहा, वहाँ मोक्षमार्ग या यथाख्यातचारित्र तो कहाँ रहा, और राग का विकल्प उठे, वह तो बहुत दूर रहा और निमित्त से-पर से लाभ

हो, यह तो कहीं का कहीं गया। आहाहा! क्या वस्तु है! यह वस्तु छोड़कर जाना कहाँ? कहाँ जाना? अन्दर ही समा जाना। अन्दर त्रिकाली वस्तु, वही निश्चय है। पूजा, भक्ति तो शुभराग है, देव-गुरु-शास्त्र भी बाहर के निमित्त हैं और मोक्षमार्ग या मोक्ष, वह भी एक समयमात्र की पर्याय है, व्यवहार है, अन्दर त्रिकाली वस्तु, वही निश्चय है। इस मार्ग को समझे बिना मोक्ष की प्राप्ति दूसरे मार्ग से नहीं हो सकती।

मोक्षपर्याय को व्यवहार कहा, परन्तु इससे मोक्षपर्याय का अभाव नहीं है। मोक्षपर्याय है सही, परन्तु द्रव्यदृष्टि में उसका लक्ष्य नहीं है। यदि पर्याय न ही हो तो वस्तु किसकी? और यदि ध्रुव पर दृष्टि न हो तो वह सम्यग्दर्शन किसका? यदि ध्रुव-कूटस्थ वस्तु की दृष्टि न करे तो वह सम्यग्दर्शन नहीं; ध्रुव एकरूप वस्तु में पर्याय प्रगट होने के भेद नहीं हैं।

इस प्रकार कारणस्वभाव दर्शनउपयोग और कार्यस्वभाव दर्शनउपयोग का स्वरूप कहा, परन्तु दर्शन गुण का नहीं। शुद्ध परम आत्मतत्त्व की निश्चय एकरूप श्रद्धा, वही आत्मा का स्वाभाविक गुण अर्थातृ केवलदर्शन व्यक्त करने का साधन है, इसलिए कारणस्वभाव दृष्टि जो त्रिकाल एकरूप है, वही उपादेय है; सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान भी वास्तव में उपादेय नहीं है। क्योंकि वह एकसमयमात्र की पर्याय है।

प्रश्न—पर्याय को आदरणीय माने तो क्या हानि?

उत्तर—एकसमयमात्र की पर्याय है, उसके लक्ष्य से राग आता है, क्योंकि अभी साधकदशा है-हीनदशा है; परिपूर्ण निर्मलदशा प्रगट नहीं हुई। इसलिए अवस्था का लक्ष्य करने जाने से स्वभाव का लक्ष्य नहीं रहता, क्योंकि छद्मस्थ उपयोग क्रमसर होता है और एकरूप स्वभाव की दृष्टि में ढले बिना निर्मल अवस्था नहीं होती, इसलिए कारणस्वभावदृष्टि जो त्रिकाल एकरूप है, वही उपादेय है।

टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि —

(इन्द्रवज्रा)

दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकमेकमेव चैतन्यसामान्यनिजात्मतत्त्वम्।
मुक्ति-स्पृहाणा-मयनं तदुच्चैरेतेन मार्गेण विना न मोक्षः।।२३।।

दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सामान्य एक चैतन्य आत्मतत्त्व है, उसकी नजर, वही मोक्ष का उपाय है; इस मार्ग के बिना मोक्ष नहीं है। यहाँ अकेले चैतन्य के सामान्य दर्शन के व्यापार का आदर बतलाना है, अपेक्षित पर्याय की बात नहीं है। एकरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सामान्यध्रुवतत्त्व, वह मुक्तिस्वरूप का दर्पण है, उस तत्त्व में पर्याय प्रगटे, उसके भेद नहीं हैं।

आत्मा की मुक्तदशा की इच्छा करनेवाले के लिये ध्रुवस्वरूप नित्य एकरूप है, वह दर्पण समान है। पुण्य-पाप दोनों विकार है, उन रहित भगवान आत्मा शाश्वत् चैतन्यबिम्ब है, उसे धारे बिना—दृष्टि में लिये बिना—'मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती!' यह तो गुण की कारणपर्याय की व्याख्या होती है। अहो! पद्मप्रभमलधारिदेव की टीका! गजब किया है। वस्तु के अध्यात्मस्वरूप को बाहर में प्रगटरूप से रख दिया है। एक-एक गुण की वर्तमान ध्रुवपर्याय है। इस मार्ग को धारे बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं है।

यह दुर्लभ मनुष्यपना, उसमें वीतराग का जैनशासन और उसमें भी अपूर्व सत् समझने का अवसर आया और इस अवसर में यदि मूलतत्त्व न पकड़े तो जन्म-मरण का अन्त कहाँ? यह मनुष्यदेह और अपूर्व सत् समझने का अवसर बारम्बार मिलनेवाला नहीं है।

प्रश्न—निचलीदशा में अधूरी पर्याय वह शुद्ध का अंश है और वह पूरी होकर केवलज्ञान-पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होती है, वह दशा ध्रुव में से आती है न?

उत्तर—हाँ, पर्याय ध्रुव के लक्ष्य से प्रगट होती है, तथापि ध्रुव तो ध्रुव ही है। ध्रुव तो एकरूप त्रिकाल टिकता है, उस ध्रुव पर जोर करने से अपूर्ण पर्याय पूर्ण होती है, वह पूर्णता हीनपर्याय के कारण से नहीं। पारिणामिक तो त्रिकाल है ही। क्षायिकभाव प्रगट होने के पश्चात् अनन्त काल टिकता है, परन्तु वह पारिणामिक नहीं है। केवलज्ञान भी एक समयमात्र की पर्याय है, समय-समय करते अनन्त काल टिकता है; और जो सत् वस्तु है, वह कायम एकरूप रहनेवाली है। क्षायिकभाव कायम टिकने का अर्थ ऐसा है कि 'वैसी की वैसी एक सरीखी पर्याय हुआ करती है', वर्तमान एक ही पर्याय होती है। सिद्धदशा में भी पर्याय समय-समय में हुआ करती है; परन्तु पर्याय, वह अवस्थारूप धर्म है और ध्रुव है, वह तो तीनों काल एकरूप है। मन, वचन, देह और

इन्द्रियों से पार अकेला चैतन्यदल, वह ध्रुव वस्तु है। एक समय में वस्तु के जितने गुण हों, उनकी प्रत्येक की एक-एक अवस्था प्रगट होती है और उस समय पूरा द्रव्य तो त्रिकाल पड़ा ही है।

'पारिणामिक' शब्द बारम्बार प्रयोग किया है, उसका अर्थ क्या? पारिणामिक अर्थात् सहजस्वभाव। उत्पाद-व्यय बिना का ध्रुव एकरूप कायम रहनेवाला, वह पारिणामिक है। सिद्धदशा में क्षायिकभाव, वह विशेषता है। पारिणामिकभाव तो सभी जीवों को सामान्य होता है। सिद्ध हुए उन्होंने पहले लक्ष्य कहाँ लगाया था?

केवलज्ञान या सिद्धदशा, वह तो अवस्था है, वह दूसरे समय बदल जाती है तथा वर्तमान में तो वह है नहीं, इसलिए उसके ऊपर लक्ष्य नहीं होता; जो त्रिकाल है, उसके आधार से नया प्रगट होता है। जो पर्याय चली जाये, उसके आधार से नयी पर्याय प्रगट नहीं होती, परन्तु ध्रुव एकरूप अविचल स्वभाव के जोर से निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

यह आत्मा के अन्तर स्वरूप की बात है। रागादिभाव, वह विकारी क्रिया है, वह आत्मा के अन्तर स्वरूप से बाहर है। जिसे आत्मा की स्वतन्त्र सुखदशा चाहिए हो, उसके लिये यह बात है। पैसे इत्यादि धूल के ढ़ेर में या स्वर्गादि में जो सुख माना है, वह पराधीनता है, उसमें वास्तविक सुख नहीं है। जिसे स्वाधीन सुखदशा चाहिए हो, उसके लिये आचार्य महाराज ने दर्पण रख दिया है, उसमें अपना मुँह देखना है। आचार्यदेव कहते हैं कि—यह कहा जाता है, वैसा ही तू है। हम यह जो तत्त्व कहते हैं, वह तू तेरे आत्मा में देख लेना। कोई दूसरा तुझे बता दे, ऐसा नहीं है। पूर्व में तुझे सब कहा था, परन्तु तुझसे पकड़ में न आये तो कोई दूसरा समझा नहीं सकता। तू तुझसे समझणकर तो हो सकता है। हम समझे, वह हमारे पास रह गया; तुझे समझना हो तो तू तुझमें देख ले! इस मार्ग के धारे बिना—अन्तर में टिकाये बिना मोक्ष नहीं है। बाहर का तो अनन्त बार कर चुका। त्यागी हुआ परन्तु आत्मा की पहिचान बिना उसमें कुछ धर्म का लाभ हुआ नहीं। आत्मस्वरूप की दृष्टि के भान के पश्चात् विशेष स्थिरता में राग टूटने से राग के निमित्त सहज छूट जाते हैं, वहाँ क्लेश नहीं होता है, अन्तर की शान्ति बढ़े, उसका नाम धर्म है।

लोग तो बाह्य निमित्त में रुक गये हैं। भगवान की प्रतिमा देखे, उसमें भी बाधा निकालते हैं कि आँख छोटी है, शरीर में दाग है इत्यादि। परन्तु वह तो निमित्त है, पर है, वह कहाँ तुझमें आ जाती है, परन्तु जगत को उसमें भी बाधा! जिसे अन्तरस्वरूप की पहिचान की दिक्कत, उसे जगत में सर्वत्र दिक्कत। और कोई प्रतिमा को उड़ावे कि आत्मा के भान के बाद प्रतिमा नहीं होती। परन्तु अभी स्वयं को दर्शनशुद्धि के भान बिना दर्शनशुद्धि के पश्चात् क्या होता है, उसकी खबर कहाँ से पड़ गयी? वस्तु स्वरूप को धारे बिना तीन काल-तीन लोक में किसी की मुक्ति होती नहीं, होती नहीं, होती नहीं।

अन्तर स्वरूप की पहिचान बिना जिसका आत्मा को जरा भी शरण नहीं, ऐसे शरीर को बारम्बार धोया करे - साफ किया करे, परन्तु वह तो मिट्टी है। उसमें कब आत्मा का धर्म था? अन्दर चैतन्य आनन्दघन रसकन्द एकरूप ध्रुव अविचल निर्विकार चिदानन्द पड़ा है, उसकी श्रद्धा कर, उसका ज्ञान कर और उसमें रमणता कर। स्वरूप की रमणता होने पर जितने अंश में राग टूटा, उतने राग के निमित्त भी छूट ही जाते हैं, यह सहज है। पर्याय में यह राग छोड़ूँ या शुद्ध होऊँ, यह भी दृष्टि के विषय में नहीं है। वस्तु में ग्रहण-त्याग है ही नहीं। राग तोड़कर वीतराग होऊँ, ऐसा भी सम्यग्दर्शन के लक्ष्य में नहीं है; तथापि अखण्ड एकरूप स्वभावदृष्टि के जोर में राग टूटता जाता है और निर्मल पर्याय बढ़ती जाती है, परन्तु उस निर्मल पर्याय पर सम्यग्दर्शन का लक्ष्य नहीं है; सम्यग्दर्शन का लक्ष्य तो अखण्ड एकरूप ध्रुववस्तु है।

भगवान आत्मा सदा परिपूर्ण स्वभाव से भरा है। आत्मा के गुण कहाँ जायें? आत्मा में ही भरे हैं, परन्तु उसे अपनी श्रद्धा बैठती नहीं, वही संसार का कारण है। जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी होती है, उसकी सुगन्ध आने पर वह मृग मानो कि यह सुगन्ध कहाँ से आती होगी! ऐसा विचारकर वह बाहर में दौड़ता है, वास्तव में तो अपने में से ही सुगन्ध आती है, परन्तु मृग को अपनी कस्तूरी का विश्वास नहीं; उसे ऐसा बैठ गया है कि 'मैं ऐसा क्षुद्र प्राणी और मुझमें ऐसी उत्कृष्ट सुगन्ध कैसे हो सकती है!' बस! अपने सामर्थ्य का अविश्वास ही उसे दुःख का कारण होता है। उसी प्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि—'अरे प्रभु! तू तीन लोक का नाथ है, सिद्ध है, तेरा सुख तुझमें भरचक

पड़ा है, तुझे पर की आवश्यकता नहीं है।' यह बात अज्ञानी को बैठती नहीं, क्योंकि अनादि से 'मुझे परवस्तु के बिना नहीं चलता' ऐसा मानकर बैठा है, यह मान्यता ही उसे अपना विश्वास नहीं होने देती।

आचार्यदेव कहते हैं कि:—वास्तव में परमात्मा और इस आत्मा में जो किंचित् अन्तर मानता है, वह मिथ्यादृष्टि महापातकी है। वह आत्मा के गुण की हिंसा करता है। आत्मा ज्ञानानन्द पवित्र स्वभाव से भरा है, उसमें अवस्था का लक्ष्य करना नहीं, क्योंकि अवस्था क्षणिक है, अवस्था जितना आत्मा नहीं है। जिसने राग जितना आत्मा को माना, अथवा तो वीतरागदशा जितना आत्मा माना, उसने दूसरे अनन्त गुणों का और अनन्त पर्याय के पिण्ड का अनादर किया है। जिसने आत्मा को पर्याय जितना माना, उसने द्रव्य को एक समयमात्र का माना। वीतराग पर्याय भी एक समयमात्र की ही है, उस पर्याय जितना ही जिसने आत्मा माना, उसने त्रिकाली वस्तु को नहीं माना, इसलिए उसकी मान्यता में उसने अनन्त गुणों और अनन्त पर्यायों का अनादर किया, वही अनन्त पाप है, उसके जैसा कोई पापी नहीं। अखण्ड परिपूर्ण वस्तु को लक्ष्य में लिये बिना निर्मलदशा प्रगट नहीं होती।

वस्तु तो जैसी है, वैसी है, उसमें विवाद क्या? वस्तु में कुछ भी आड़ा-टेढ़ा चले, ऐसा नहीं है। शरीर, मन, वाणी, वह तो पर है। पुण्य-पाप का निषेध तो कहीं गया, यहाँ तो तेरी वीतरागपर्याय का भी निषेध है, क्योंकि तू पर्याय जितना नहीं। पर्याय एकसमयमात्र की है, वह अभूतार्थ* है और सम्यग्दर्शन अभूतार्थ पर्याय को विषय नहीं करता। यहाँ तो मालवाला त्रिकाली द्रव्य पड़ा है, उसकी कीमत है; उसमें राग तो कहीं रहा, परन्तु जो निर्मल अवस्था, वह भी मचक खाती है-बदल जाती है। एकरूप वस्तु, जिसमें मचक नहीं, उसका ही सम्यग्दर्शन को आश्रय है—वही सम्यग्दर्शन का विषय है।

अन्दर चैतन्यध्रुव शाश्वत् पड़ा है, उसकी निर्मल पर्याय भी अनित्य है, तो बाहर का लक्ष्य जाये, उस विकारी पर्याय की तो बात ही कहाँ रही?

भगवान की प्रतिमा भी नाशवान है। तुझे राग का विकल्प उठा है, वह भी

* अभूतार्थ का अर्थ 'अभावरूप' नहीं होता परन्तु 'त्रिकाली नहीं' ऐसा होता है।

नाशवान है; अन्दर जो निर्मलदशा उघड़ती है, वह भी नाशवान है, तो अब तुझे किसे अविचल बनाना है ? वह बीच में हो, वह अलग बात है, परन्तु हमने यह किया, हमारे से यह होता है अथवा उससे धर्म होता है, ऐसा माने तो दृष्टि खोटी है। त्रिकाली ध्रुव का आश्रय चूककर जो बाहर में लक्ष्य जाये या पर्याय में लक्ष्य जाये, वह सब विकार का (क्षणिक का) लक्ष्य है।

दर्शन उपयोग वह भी ध्रुव है। वस्तु, गुण और उसकी अवस्था त्रिकाल एकरूप ही है, वह सम्यग्दर्शन का लक्ष्य है। यह समझण अनन्त काल में की नहीं, यह समझना ही अपूर्व है और उसमें अनन्त पुरुषार्थ है। संसार सम्बन्धी काम में बुद्धि का उघाड़, वह पूर्व के कारण से है, वर्तमान चतुराई का वह फल नहीं परन्तु पूर्व का उघाड़ लेकर आया है, वह दिखता है - तथापि उसमें कितनी सावधानी रखता है! वहाँ की सावधानी तो संसार का कारण है और उस संसार के मूल तोड़ने का उपाय आत्मा की समझ करने में वर्तमान में अनन्त पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। यह समझ करे तो आत्मा का अपूर्व लाभ हो और यह समझे नहीं तो आत्मा का लाभ नहीं होता।

★★★★★

गाथा-१४

व्याख्यान नं. १६, दिनांक ०५-५-१९४४, शुक्रवार

गाथा चौदहवीं।

तेरहवीं गाथा में स्वभाव दर्शनोपयोग का वर्णन किया। अब चौदहवीं गाथा में विभाव दर्शनोपयोग का—हीन पर्याय का वर्णन करते हैं। दर्शन उपयोग का अधिकार चलता है, बहुत सूक्ष्म अधिकार है।

चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विहावदिट्ठि त्ति।
पज्जाओ दु-वियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो।।१४।।

चक्षुरचक्षुरवधयस्तिस्रोऽपि भणिता विभावदृष्टय इति।
पर्यायो द्वि-विकल्पः स्वपरापेक्षश्च निरपेक्षः।।१४।।

अर्थ — चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन, इन तीनों को विभावदर्शन कहा गया है; पर्याय दो प्रकार की है, एक स्व-पर अपेक्षित और दूसरी निरपेक्ष।

अवस्था दो प्रकार की है—१— स्व-पर अपेक्षित, २— निरपेक्ष। इस गाथा में दर्शनगुण की हीन अवस्था को अशुद्ध कार्यस्वभाव कहा है, वही विभावदर्शन उपयोग है। जैसे मतिज्ञानावरण के उघाड़ से मतिज्ञान परपदार्थ को, रूपी वस्तु को जानता है, वैसे चक्षुदर्शनावरण के उघाड़ से चक्षुदर्शन मूर्तिक पदार्थ को देखता है। जानने के पदार्थ की ओर लक्ष्य करने से पहले जानने की सामर्थ्यवाला आत्मा का व्यापार, वह दर्शन उपयोग है। चक्षु सम्बन्धी मतिज्ञान से पहले आत्मा का सामान्य व्यापार, वह चक्षुदर्शन है। मूर्त द्रव्य को जाने, वह तो ज्ञान का विषय है, परन्तु ज्ञान से पहले उस ओर का चैतन्य के व्यापार का झुकाव होना, वह दर्शन है।

जिसे धर्म करना है, उसे प्रथम आत्मा अन्दर निर्मल दृष्टाशक्ति (दर्शनगुण) से भरपूर है। पुण्य-पाप तो क्षणिक विकार है—उससे रहित दृष्टाशक्ति त्रिकाल शुद्ध है, उसकी श्रद्धा करनी पड़ेगी। दर्शन अर्थात् 'श्रद्धा' प्रगट होती है, वह नहीं परन्तु श्रद्धा का

विषय दर्शन है, उसकी यहाँ बात है। पर का दर्शन तो निमित्त से कहनेमात्र है। अन्दर आत्मा पूर्ण गुणों से और अनन्त अवस्थाओं से भरपूर है, उसमें एक दर्शनगुण त्रिकाल है और उसका देखनेरूप व्यापार, वह दर्शन उपयोग है। आचार्य भगवान कहते हैं कि:— दर्शनगुण—दृष्टाशक्ति आत्मा में अनादि-अनन्त है। अकेला दर्शनगुण नहीं परन्तु दर्शनगुण के साथ चारित्र, वीर्य इत्यादि अनन्त गुण हैं। एकरूप दर्शन उपयोग अन्दर कायमी भाव है। वह श्रद्धा, ज्ञान, आनन्दसहित है; उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें स्थिरता, यह मोक्ष का उपाय है। आत्मा की अन्दर एकरूप दृष्टाशक्ति का सहज स्वाभाविक अन्तर व्यापार, उसका श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता, वह धर्ममार्ग है, अरूपी आत्मस्वभाव की निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, वह मोक्ष का मार्ग है।

आत्मा अरूपी वस्तु है, उसमें अनन्त गुण त्रिकाली हैं, उसमें दर्शनगुण त्रिकाल है और उस दर्शनगुण का व्यापार भी त्रिकाल एकरूप है। उसका श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता, वही धर्म का उपाय है; शरीर, मन, वाणी की क्रिया से तीन काल-तीन लोक में धर्म नहीं होता। धर्म क्या चीज़ है और वह कहाँ है, यह समझे बिना धर्म कहाँ से होगा? आत्मा देह से निराला अरूपी ज्ञानघन वस्तु है, उसका दर्शन, वह त्रिकाली स्वभाव है और उस दर्शन का वर्तमान व्यापार भी त्रिकाल एकरूप है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और रमणता बिना मोक्ष नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग कोई कहे तो वह भगवान तीर्थंकर का मार्ग नहीं है, परन्तु उनके (दूसरा मार्ग कहनेवालों के) घर का मार्ग है।

इस गाथा में पूर्णदशा होने से पहले बीच में दर्शन उपयोग की एक हालत उघड़ती है, उसकी व्याख्या है। आत्मा ज्ञानमूर्ति है, उसमें 'मैं निर्मल ज्ञानघन स्वरूप हूँ' ऐसी प्रतीतिपूर्वक होता जो मतिज्ञान—उसके उघाड़ से स्व को जानने के साथ पर को भी जानता है, तथा चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से चक्षुदर्शनोपयोग (अरूपी दर्शनगुण की निर्मल अवस्था) मूर्तिक पदार्थ को देखती है। बाहर की आँखें, वह चक्षु नहीं परन्तु अन्दर दर्शनगुण की निर्मल पर्याय उघड़ती है, वह चक्षुदर्शन है।

प्रश्न—आँख हो तो दिखाई दे न?

उत्तर—आँख तो जड़ है, आँख से कुछ नहीं दिखता। आँख से दिखे तो मुर्दे को दिखना चाहिए। परन्तु मुर्दे को दिखता नहीं क्योंकि उसमें आत्मा नहीं है; देखनेवाला तो आत्मा है। अन्दर के चक्षुदर्शन को आवरण करनेवाला कर्म का पुरुषार्थ से स्वयं ने जितना उघाड़ किया हो, उतने मूर्तिक पदार्थों को अपनी अवस्था में चक्षुदर्शन देखता है। आत्मा में पूर्ण केवलज्ञान होने से पहले जो चक्षुदर्शन (देखने की शक्ति) की एक अवस्था प्रगट होती है, उसे चक्षुदर्शन उपयोग कहते हैं।

जैसे श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान समस्त मूर्त-अमूर्त पदार्थों को परोक्षरूप से जानता है, उसी प्रकार अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अचक्षुदर्शन स्पर्शन-रसन-घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने योग्य विषय को सामान्यरूप से देखता है।

श्रुतज्ञान अर्थात् शास्त्र के पन्ने का ज्ञान, वह नहीं, परन्तु अन्दर आत्मा में ज्ञान की अरूपी अवस्था, वह श्रुतज्ञान है। आत्मा अरूपी वस्तु, उसका सब अरूपी है। कोई कहे कि आत्मा को रूपी-अरूपी कहा जाता है न? तो रूप अर्थात् स्वयं है, वह अपना रूप है। आत्मा अपने असंख्य प्रदेशाकार है, वह अपने स्व-रूप से है और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित है, इस अपेक्षा से अरूपी है—इस प्रकार उसे रूपी-अरूपी कहा जाता है। अरूपीपना, वह आत्मा का है; आत्मा में अरूपी श्रुतज्ञान है। अन्दर ऐसा ज्ञात हो कि 'मैं ज्ञान हूँ, मेरा स्वभाव निर्मल है, जो पुण्य-पाप की वृत्ति उठे, वह विकार है—मेरा स्वरूप नहीं।' ऐसा जो ज्ञान, वह भावश्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञानावरण कर्म के उघाड़रूप ज्ञान की अवस्था, वह श्रुतज्ञान है। भगवान की जो द्वादशांग वाणी निकली, उस वाणी में कही हुई चौदह ब्रह्माण्ड की मूर्त (स्पर्शादिवाली) और अमूर्त (धर्मास्ति इत्यादि) सर्व वस्तुओं को परोक्ष रीति से श्रुतज्ञान जानता है, ऐसा अरूपी श्रुतज्ञान व्यापार आत्मा में है। श्रुतज्ञान अर्थात् शब्द या पृष्ठ नहीं, परन्तु अन्दर जो मन, वाणी, देह से पार है—ऐसा ज्ञानस्वभाव, उसकी श्रुत अवस्था के बल द्वारा (आंशिक उघाड़ द्वारा) भी, वीतराग ने जो कहा वह सब परोक्ष रीति से श्रुतज्ञान जानता है।

यह किसे कहा जाता है? केवली भगवान को या मुनि को नहीं कहते, परन्तु

आत्मा का धर्म क्या है, उसे जानकर जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे कहा जाता है। यह श्रुतज्ञान निचलीदशा में आता है। जगत ने लगायी जड़ से और भगवान ने लगायी अन्दर से। सब नजर में ही दिखता है। 'नहीं दिखता' ऐसा निर्णय करनेवाला कौन? चैतन्य ने निर्णय किया या जड़ वस्तु ने? आत्मा ने स्वयं ही यह निर्णय किया है; तो निर्णय किया वह प्रत्यक्ष या परोक्ष? स्वयं निर्णय किया उसमें निर्णय की शंका नहीं, वह प्रत्यक्ष है। निर्णय करनेवाला ही स्वयं अरूपी ज्ञानस्वरूप है, जड़ को कुछ खबर नहीं।

अज्ञानी विचार करता नहीं कि आत्मा क्या चीज़ है? आत्मतत्त्व की पहिचान का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। अन्दर ज्ञानस्वभाव का धारक आत्मा स्वयं अपना निर्णय करता है। मुझे मेरा निर्णय होगा या नहीं, ऐसी शंका उसे नहीं पड़ती। 'नहीं दिखता' ऐसा किसने कहा? 'मुझे मेरा निर्णय नहीं होता' ऐसा कहनेवाले ने 'मैं तो हूँ', ऐसा स्वीकार कर लिया है। स्वयं अरूपी तत्त्व त्रिकाल है परन्तु अपना विचार नहीं मिलता, ऐसी की ऐसी गाड़ी जोड़ दी है—परन्तु कहाँ जाना है, इसकी खबर नहीं होती। देखता है और जानता है स्वयं, और कहता है कि मुझे मेरी खबर नहीं पड़ती! आत्मा क्या, उसका स्वभाव क्या, यह जानने की दरकार ही नहीं की, अपना निर्णय नहीं किया और जड़ के अभिमान करने में जिन्दगी निकाली।

आत्मा की पहिचान होने से यह श्रुतज्ञान ढोर को और नारकी को भी हो सकता है; भगवान तीर्थंकरदेव की धर्मसभा में ढोर भी उपदेश सुनने आते हैं और ऐसा निर्णय करके सम्यग्दर्शन पा जाते हैं; और जगत के समस्त पदार्थों का स्वरूप भगवान की वाणी द्वारा कहा जाता है, उसका अरूपी आत्मा में श्रुतज्ञान द्वारा निश्चय होता है। भगवान ने कहे हुए द्वादशांग में आयी हुई मूर्त-अमूर्त वस्तुओं को श्रुतज्ञानी जानता है; समस्त कहने से अपना आत्मा भी उसमें आ जाता है।

प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं। यह तेरे स्वरूप के गीत गाये जाते हैं, परन्तु तुझे तेरी खबर नहीं। प्रभु! तेरी प्रभुता तो तुझमें भरी है, परन्तु दृष्टि बाहर में है, इसलिए पर की लगायी है; पर में से पुण्य-पाप के पड़ निकलें, परन्तु उसमें आत्मा का धर्म नहीं है।

चैतन्यमूर्ति आत्मा में कार्यदर्शनोपयोग है, उसका वर्णन चलता है। पहले मतिज्ञान

के साथ चक्षुदर्शन को मिलाया और श्रुतज्ञान के साथ अचक्षुदर्शन को मिलाते हैं। आत्मा अरूपी वस्तु, उसमें अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें, उन सबको परोक्षरीति से श्रुतज्ञान जानता है। यह चौथे गुणस्थान में होता है, सातवीं नरक के नारकी को भी श्रुतज्ञान हो सकता है। एक आत्मा जाना, वहाँ चौदह ब्रह्माण्ड ज्ञात हुए; मूर्तिक-अमूर्तिक समस्त वस्तुओं को परोक्ष रीति से जानने का श्रुतज्ञान का स्वभाव है। जैसे श्रुतज्ञान द्वारा अपने ज्ञान में 'आत्मा कौन है, शरीर क्या है', यह सब ज्ञात होता है, उसी प्रकार जो अचक्षुदर्शन प्रगट होता है, वह चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रियों के विषयों को सामान्यरूप देखता है। यहाँ गन्ध, रस इत्यादि को जानना, उसकी बात नहीं है। जानता है, वह तो ज्ञान है, परन्तु 'यह गन्ध है', ऐसा जानने से पहले अन्दर उस ओर का झुकाव का एक दर्शन उपयोग होता है, वह अचक्षुदर्शन है। चार इन्द्रिय के निमित्त से देखने का सामान्यस्वभाव, उसे भगवान 'अरूपी आत्मा का अचक्षुदर्शन उपयोग' कहते हैं। आत्मवस्तु अन्दर कायमी दर्शन-सत्व से भरपूर तत्त्व है। जैसे नमक की डली खारेपन से भरी हुई है, उसी प्रकार आत्मा अरूपी दृष्टागुण से भरपूर तत्त्व है; ज्ञान की डली है। साढ़े तीन हाथ के देह प्रमाण अन्दर दर्शन-ज्ञानादि गुण का पिण्ड अरूपी आत्मा है। शरीरादि तो जड़ हैं, रूपी वस्तु है और ज्ञानमूर्ति आत्मा उससे भिन्न है। शरीर, वह कहीं आत्मा नहीं कि आत्मा के साथ रहे! दोनों वस्तुयें भिन्न हैं। अहो! कहाँ चैतन्यतत्त्व आत्मा और कहाँ जड़ शरीर? आत्मा की खबर नहीं होती और धर्म करना—यह बात कहाँ से बने?

अचक्षुदर्शन वर्तमान भी सबको हो रहा है, परन्तु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं। किसी भी वस्तु का ज्ञान होने से पहले उस ओर का झुकाववाला अन्तर व्यापार, वह दर्शन उपयोग है। व्यापार अर्थात् क्या? कोई पर का व्यापार नहीं कर सकता; पुस्तक या चश्मे का व्यापार आत्मा नहीं कर सकता, परन्तु उस ओर लक्ष्य करके रागभाव में जुड़ता है, उस राग का व्यापार करता है। अरूपी का व्यापार रूपी वस्तु में नहीं होता; अरूपी, अरूपी में ही व्यापार कर सकता है।

अब, अवधिदर्शन की व्याख्या करते हैं। जैसे अवधि ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम से समस्त मूर्तिक पदार्थ को अवधिज्ञान जानता है, वैसे अवधि दर्शनावरणीयकर्म के

क्षयोपशम से अवधिदर्शन समस्त मूर्त वस्तुओं को देखता है। ज्ञान में स्थित होने पर अन्दर ज्ञान में स्वर्ग-नरकादि इन्द्रियों के अवलम्बन बिना ज्ञात हो, ऐसी ज्ञान की मर्यादित उघाड़ दशा, वह अवधिज्ञान है। उस ज्ञान से पहले होनेवाला दर्शन का व्यापार, वह अवधिदर्शन है; वह सब मूर्त पदार्थों को देखता है।

यहाँ दर्शनगुण की पर्याय की व्याख्या करते हैं। आत्मा अरूपी वस्तु है, उसमें अनन्त गुण हैं, प्रत्येक गुण की हालत क्षण-क्षण में पलटती है। घड़ीक में तीव्र क्रोध, घड़ीक में मन्द क्रोध, घड़ीक में क्षमा, ऐसे बदला ही करती है, वह क्षमागुण की अवस्था है। गुण त्रिकाल रहकर उसकी अवस्था बदला करती है। आत्मा में अनन्त गुण हैं, उन प्रत्येक की हालत समय-समय में बदला करती है - पलटन होता है, उसे भगवान 'पर्याय' कहते हैं। आत्मा त्रिकाली वस्तु, उसमें ज्ञान-दर्शनादि गुण, वे भी त्रिकाली और उन गुणों का समय-समय में परिणमन होना - बदलना, वह पर्याय है। आचार्य स्वयं उपयोग की व्याख्या करने के पश्चात् अब पर्याय की व्याख्या रखते हैं।

'**परि समन्तात् भेदम् एति गच्छति इति पर्यायः**' जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो अर्थात् भेद के प्रति जाये, वह पर्याय है। जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये छहों द्रव्य अखण्ड वस्तु है, उस अखण्ड वस्तु में से एक समयमात्र की अवस्था प्रगटे, वह पर्याय है। यह अँगुली दिखती है, वह मूल वस्तु नहीं है परन्तु रजकणों की अवस्था है। अमुक वर्ष पहले, यह अँगुली नहीं थी, परन्तु जो परमाणु चावल-दाल इत्यादि अवस्थारूप से थे, वे बदलकर अँगुलीरूप से उसकी अवस्था हुई; अँगुली में भी अनन्त परमाणु हैं, उन प्रत्येक की अवस्था समय-समय में बदलती है। रजकण, वह जगत की वस्तु है, एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में वह रजकणरूप से कायम रहकर अपनी अवस्था बदला करते हैं। आत्मा भी जगत की वस्तु है, उसमें ज्ञानादि-अनन्त गुण हैं, उनकी अवस्था प्रत्येक समय बदला करती है। समय अर्थात् काल का छोटे में छोटा भाग; एक सेकेण्ड जितने समय में असंख्य समय चले जाते हैं।

प्रश्न—यह सब किसलिए कहा जाता है?

उत्तर—'तू शाश्वत् वस्तु है, तुझमें अनन्त गुणों का सामर्थ्य त्रिकाल है, तेरी अवस्था तेरे कारण से पलटा करती है, तू पराधीन नहीं' ऐसा समझाने के लिये कहा जाता है। इसलिए तू कौन है, यह पहिचानकर रागादि को टाल तो धर्म हो और इस जन्म-मरण के दु:ख का अन्त आवे और स्वरूप के सुख की प्राप्ति हो।

प्रश्न—आत्मा का स्वरूप न समझे तो क्या बाधा है?

उत्तर—आत्मा का स्वरूप न समझे तो चौरासी में भटके और दु:ख भोगे। जिसे एक आत्मा की खबर नहीं, उसे सबकी खबर नहीं। 'जो सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो, अर्थात् कि पूरी वस्तु में से एक भेदरूप परिणमन करे, वह पर्याय है, वह पर्याय समय-समय में बदलती है।' ऐसा कहकर आचार्यदेव समझाते हैं कि उल्टी मान्यतारूप पर्याय बदल जाती है और सुल्टी मान्यता होती है। संसार-मोक्ष दोनों पर्याय है। संसारदशा, वह आत्मा की अरूपी विकारी दशा है। शरीरादि मेरे, पुण्य-पाप मेरे, ऐसी जो उल्टी मान्यता, वही संसार है। संसार, वह विकारी दशा है; विकार अर्थात् गुण की विपरीतता-वह आत्मा में है, पर में नहीं। जहाँ उल्टी अवस्था है, उसकी खबर नहीं और पर में माने तो वह उल्टी अवस्था टलती नहीं। अन्दर में जो पुण्य-पाप के विकल्प होते हैं, उन्हें अपना स्वरूप मानना ही संसार है; उसे समझे नहीं और बाहर में त्याग करके साधु हो, उपवास करे, अट्ठाईस मूलगुणसहित नग्न मुनि हो और मैंने संसार छोड़ दिया, ऐसा बाह्य त्याग से माने, परन्तु 'मैंने परवस्तु को छोड़ा', ऐसा माना इसलिए परवस्तु को आत्मा में प्रविष्ट हो गयी माना, यह मान्यता ही संसार है। यह उल्टी मान्यता न छोड़े और मात्र बाह्य त्याग करे, उसे मिथ्यात्व के पोषण का लाभ होगा, उसका अवतार चौरासी के अवतार बढ़ाने के लिये सफल होगा।

ज्ञानी की क्रिया को अफल कहा जाता है अर्थात् कि ज्ञानी को उस क्रिया से बन्धन नहीं है, अवतार बढ़ता नहीं। ज्ञानी की क्रिया तो स्वरूप में समाती है; यह जैन के एकड़ा की अर्थात् एकदम शुरुआत की बात है। मूल तत्त्व को भूलकर दूसरी बात लोगों में प्राय: हो रही है, वीतरागधर्म किसे कहना, यह बहुभाग लोग नहीं जानते और बहुत तो बाहर में त्याग करके उसमें धर्म मान लेते हैं। मेंढ़क कूद-कूदकर कितना

कूदे ? एक बार कोई समुद्र का मेंढ़क कुएँ में जा चढ़ा, वहाँ कुएँ का मेंढ़क कहे—तेरा समुद्र कितना होगा ? तब समुद्र का मेंढ़क कहे, भाई ! नजर से देखे बिना उसका माप नहीं निकलता, तब कुएँ का मेंढ़क कहता है—देखो, मैं कूदता हूँ, ऐसा कहकर कुएँ के एक छोर से दूसरे छोर तक कूदा, उसके मन में तो ऐसा कि मेरे कूदने में समुद्र का माप आ गया, परन्तु समुद्र का मेंढ़क कहता है, भाई ! समुद्र का माप अपने कूदने से नहीं निकलता, वह तो नजर से देखने पर खबर पड़ती है। उसी प्रकार धर्म का माप बाहर से नहीं आता परन्तु अन्तरस्वरूप की पहिचान चाहिए। अज्ञानी बहुत-बहुत करे तो बाह्य त्याग और शुभराग करके उसमें धर्म मान बैठता है, परन्तु आत्मा क्या है, उसके भान बिना धर्म नहीं होता। धर्म का स्वरूप अज्ञानी की दृष्टि से माप में आवे, ऐसा नहीं है। अशुभभाव की तो यहाँ बात ही नहीं। शिकार, माँसाहार, परस्त्री गमन इत्यादि महान पाप करनेवाले की सातवें नरक में पार्लियामेन्ट भरती है। यहाँ तो परवस्तु के आधार से बाह्य त्याग में धर्म नहीं, यह बतलाना है। सातवें नरक में बाहर में तो सबका त्याग है, चावल का दाना या वस्त्र का ताना ही नहीं है। यदि बाह्य त्याग से धर्म हो तो उन सबको धर्म हो जाना चाहिए। बाहर का त्याग हो परन्तु अन्दर में भान न हो तो वह महा अज्ञानी है, और ज्ञानी चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य में हो, तथापि दृष्टि में रागादि सर्व का त्यागी है। त्रिकाली स्वरूप की दृष्टि में रागादि नहीं हैं, उसका भान वर्तता है, वह धर्मी है।

सर्व ओर से भेद को प्राप्त हो अर्थात् परिणमन करे, वह पर्याय है। परि=समस्त प्रकार से, णमन=ढलना, बहना; वस्तु स्वयं अखण्ड रहकर उसमें समय-समय में अवस्था बहा करती है, वह परिणमन है। वस्तु और उसके सब गुण समय-समय में परिणमा करते हैं; द्रव्य-गुण सर्वथा ध्रुव नहीं; यदि द्रव्य-गुण सर्वथा ध्रुव हों तो परिणमन किसका ? द्रव्य-गुण सर्वथा ध्रुव नहीं परन्तु कथंचित् परिणामी है। अवस्था अनित्यता बतलाती है और द्रव्य ध्रुवता-नित्यता बतलाता है, परन्तु ध्रुवता और अनित्यता भिन्न नहीं है, दोनों होकर पूरी वस्तु है। ध्रुवता का पिण्ड अलग और परिणमन का टुकड़ा अलग, ऐसा नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि बदलने पर भी द्रव्य, गुण और उपयोग एकरूप रहते हैं।

कोई ऐसा कहे कि जड़ में परिणमन नहीं होता, तो वह बात मिथ्या है; जीभ जड़ है, अब यदि जड़ में परिणमन न हो तो बोला कैसे जाये ? जो बोला जाता है, वह जड़

का परिणमन है। आत्मा में शब्द सुनने का लक्ष्य हुआ, वह आत्मा का लक्ष्य बदला है, वह आत्मा का परिणमन है। प्रत्येक वस्तु में समय-समय में परिणमन हो रहा है, उसमें स्वभाव पर्याय, वह तो छहों द्रव्यों में साधारण है। आलू की एक राई जितनी कणी लो तो उसमें असंख्य औदारिकशरीर, उस एक-एक शरीर में अनन्त आत्मा, उस एक-एक आत्मा के असंख्य प्रदेश, एक-एक प्रदेश पर अनन्त कर्म रजकण; एक-एक रजकण में अनन्त गुण और एक-एक गुण में अनन्त पर्यायें भरी हैं, यह तो अभी छोटा करियावर है; अभी अधिक विस्तार हो सके, ऐसा है। छहों द्रव्यों में एक स्वभावपर्याय होती है; निगोद से लेकर सिद्ध तक सब आत्माओं को यह स्वभावपर्याय होती है। स्वभावपर्याय अर्थात् अर्थपर्याय; बाहर के आकार की अवस्था, वह व्यंजनपर्याय है। आत्मा के प्रदेशों का शरीरप्रमाण आकार, वह व्यंजनपर्याय है; यह सूखड़ की लकड़ी चौरस है, यह इसकी व्यंजनपर्याय है और अन्दर के गुण का परिणमन, वह अर्थपर्याय है। अर्थपर्याय सूक्ष्म है। यह अन्दर की सूक्ष्म बात है, मन-वाणी से अगोचर है, साधारण को समझ में आये, ऐसी नहीं है; इसलिए आचार्य ने कहा है कि यह भगवान के आगम से प्रमाण करनेयोग्य है, वह अर्थपर्याय छह प्रकार की हानि-वृद्धिसहित है। अनन्तभागवृद्धि, असंख्यभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और संख्यातगुणवृद्धि तथा इसी प्रकार से छह प्रकार हानि—इस प्रकार अन्दर षट्गुण हानि-वृद्धि होती है। स्वभाव का अमुक भान हुआ, पश्चात् ऐसी सूक्ष्म पर्याय न समझ में आये, तो भी भगवान ने कहा तत्प्रमाण—ऐसा विश्वास करता है, 'ऐसा होगा या नहीं' ऐसी शंका नहीं करता।

प्रश्न—यह अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय तथा हानि-वृद्धि, यह सब क्या लगाया है? यह समझकर क्या करना है?

उत्तर—सब आत्मा की बात है। जिसे सुख चाहिए हो, उसके लिये यह लगायी है; यह समझे बिना सुख नहीं है। आत्मा की सच्ची समझ सुख के लिये ही है। सच्ची समझ से सुख मिलता है। जगत के काम में भी जो वस्तु चाहिए हो, उसके यथार्थ ज्ञान बिना चलता नहीं। जैसे किसी ने घर से एक व्यक्ति को शक्कर लेने के लिये बाजार

भेजा हो और वह शक्कर के बदले रींगणा लाकर रखे तो उसे पागल ही कहते हैं। बाजार में जाये, वहाँ भी शक्कर सफेद और मीठी होती है, ऐसा पहले ज्ञान करे, पश्चात् शक्करवाले की दुकान पर जाकर शक्कर माँगे तो शक्कर मिलती है, परन्तु शक्कर के बदले रींगणा माँगे और ऐसा विचार करे कि 'अपने तो शक्कर का भाव है न! भाषा का क्या काम है?' तो भी उसे शक्कर मिलेगी नहीं, इसलिए यह भी निर्णय हुआ कि अन्दर के ज्ञान जैसी ही भाषा चाहिए। शक्कर पदार्थ, शक्कर का ज्ञान और 'शक्कर' ऐसी भाषा, ये तीनों समान चाहिए, तो ही शक्कर मिलती है; उसी प्रकार आत्मा का सुख चाहिए हो तो सुख क्या, सुख कहाँ है, उसका ज्ञान और सुख के लिये भाषा, ये तीनों बराबर आना चाहिए। पहले, सुख आत्मा का स्वभाव है, यह जानना पड़ेगा। सुख बाजार में बिकता हुआ नहीं मिलता, परन्तु अन्दर की दुकान में (आत्मा के स्वरूप में) पड़ा है और ज्ञानी के निकट बोल कि मुझे मेरा सुख चाहिए! उसका उपाय किस प्रकार है? इस प्रकार सुख के लिये पहले सुख का ज्ञान चाहिए, उसका उपाय ज्ञानी को पूछने पर ज्ञानी समझाते हैं कि तेरा सुख तेरे पास है, तुझे तेरी खबर पड़े तो तेरा गुण प्रगट हो—अर्थात् सुख हो; परन्तु पहिचान बिना सुख प्रगट नहीं होता। सच्चा सुख क्या, वह कहाँ है, कौन यह समझे हैं—यह जानना चाहिए और वह कैसे प्रगट होता है, उसका उपाय ज्ञानी से समझे तो सुख प्रगट हो। सर्वज्ञ भगवान ने वाणी द्वारा छह द्रव्यों का स्वरूप कहा है, वैसा जिसने जाना है—उसके पास से ज्ञान मिलता है। इस प्रकार सुख के लिये पहले वस्तु की यथार्थ पहिचान करना चाहिए।

★★★★★

व्याख्यान नं. १७, दिनांक ०६-०५-१९४४, शनिवार

गाथा चौदहवीं चालू।

अब अशुद्धपर्याय का वर्णन कहा जायेगा। पहले दर्शन और ज्ञान उपयोग जो त्रिकाल स्वभाव है, उसका उपयोगरूप वर्णन किया। अब, पर्याय की व्याख्या करते हैं।

प्रश्न—पर्याय और उपयोग का वर्णन अलग-अलग करते हो तो क्या उपयोग, वह पर्याय नहीं है ?

उत्तर—उपयोग जो पहले कहा, वह ध्रुव एकरूप पर्याय है, वह उत्पाद-व्ययरूप नहीं; और यहाँ उत्पाद-व्ययरूप जो पर्याय है, वह कही जाती है।

यह जीव अधिकार है। इसमें पहले जीवतत्त्व का वर्णन करते हुए कहा कि व्यवहार से दस प्राण से जीवे, वह जीव है। पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, स्वाच्छ्वोश्वास और आयु, इन दस प्राणों से जीता है—यह तो निमित्त से कहा। वास्तव में इन्द्रियाँ इत्यादि तो परवस्तु हैं। निमित्त से जीवे, वह संसारदशा है और अपने त्रिकाल चैतन्य प्राण से-ज्ञानस्वभाव से जीवे, वह वास्तविक जीवन है।

कान में सुई मारी, इसलिए दु:ख हुआ, ऐसा मानना बराबर नहीं है; अन्दर जो शरीर के प्रति राग है, उसके कारण दु:ख होता है। अन्दर चैतन्य प्राण है, उसके कारण भी दु:ख नहीं है, परन्तु इन्द्रिय इत्यादि मेरे, ऐसी अज्ञानमय बुद्धि के कारण दु:ख लगता है। दस प्राण से जीना, वह तो व्यवहार से है, निश्चय से तो निगोद से लेकर सिद्ध तक जीव चैतन्यप्राण से जीते हैं।

चौदहवीं गाथा में पर्याय के दो प्रकार कहे हैं :—

(१) स्व-पर अपेक्षित अर्थात् स्व-पर के सम्बन्धवाली।

(२) निरपेक्ष अर्थात् अकेले स्व के सम्बन्धवाली। जीव तो त्रिकाल एकरूप है, उसमें अवस्था-उपयोग, वह पर्याय है।

चैतन्य प्राण त्रिकाल रहकर ज्ञान-दर्शन का उपयोग-व्यापार (अन्तर स्वसन्मुख

या अज्ञानी का परसन्मुख) उसका वर्णन किया है। ज्ञान की आठ और दर्शन की चार ऐसी उपयोग की बारह अवस्थाओं का वर्णन किया।

हाथ खराब हो जाये और न चले, वह जड़ की क्रिया है; शरीर चले, वह जड़ की क्रिया है। आत्मा शरीर को चला नहीं सकता, आत्मा तो अरूपी ज्ञानघन है, वह जड़ में कुछ नहीं कर सकता। मरण से पहले असाध्य होकर पड़ा रहता है, उस समय शरीर को चला नहीं सकता क्योंकि शरीर के ऊपर आत्मा की सत्ता कभी भी नहीं चलती। जीते-जी शरीर अच्छा हो, तब भी आत्मा का सामर्थ्य शरीर के ऊपर नहीं चलता। शरीर पर मक्खी बैठी हो, उस मक्खी का ज्ञान करे, परन्तु जीव उस मक्खी में उड़ाने में समर्थ नहीं। 'मरण समय ही आत्मा शरीर का कर सकता नहीं, परन्तु पहले कर सकता है', ऐसा नहीं है, किसी भी समय आत्मा शरीर का कर ही नहीं सकता। जड़ की अवस्था उसके (जड़ के) कारण से होती है। अज्ञानी आत्मा उसका अभिमान करता है।

आत्मा इच्छा करे और उसी समय जड़ की वैसी अवस्था जड़ के कारण से होनेयोग्य हो तो होती है, वहाँ 'मुझसे वह हुई' ऐसा अज्ञानी मान बैठता है—वह भ्रम है। ज्ञायकरूप से जानना, वही जीव का जीवन है। शरीर, मन, वाणी इत्यादि तो जड़ है, भिन्न है, इसलिए आत्मा से वे भिन्न पड़ जाते हैं, परन्तु ज्ञान भिन्न नहीं पड़ता। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवल, ये पाँचों ज्ञान की पर्याय है, उसका पहले उपयोगरूप से वर्णन किया, पश्चात् उस उपयोग के पीछे रही हुई शक्तिरूप पर्याय का वर्णन किया। तत्पश्चात् अगुरुलघुगुण का वर्णन किया, वह बहुत ही सूक्ष्म है, आगमगम्य है।

अब अशुद्धपर्याय का वर्णन करते हैं :—व्यंजनपर्याय अर्थात् आकाररूप पर्याय। आत्मप्रदेशों का देह जैसा आकार है, वह व्यंजनपर्याय।

तेरा स्वरूप क्या? क्या चैतन्यप्राण वह वस्तु, उपयोग तेरा कार्य और तेरी व्यंजनपर्याय वह तुझमें; पर का सब पर में, तेरा सब तुझमें। पर से तू त्रिकाल भिन्न है, पर को तेरा माना था, वही अनन्त संसार का कारण है।

टीकाकार कहते हैं कि —

(मालिनी)

अथ सति परभावे शुद्ध-मात्मान-मेकं,
सहज-गुणमणीना-माकरं पूर्ण-बोधम्।
भजति निशितबुद्धिर्यः पुमान् शुद्धदृष्टिः,
स भवति परमश्री-कामिनी-कामरूपः।।२४।।

जो मनुष्य उत्कृष्ट भाव से निर्मल बुद्धिवाला होकर स्वाभाविक गुणरत्नों की खान ऐसे पूर्ण ज्ञानमय अपने शुद्ध आत्मा का भजन करता है। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव मुक्तिरूपी स्त्री को प्राप्त करता है।

इसमें सम्यग्दर्शन की भी व्याख्या आ जाती है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप जाने बिना, दुनिया ने उसे घर-घर की चीज़ कर डाली है, बड़ा भाग वीतराग का मार्ग ही भूल गया है। देह, मन-वाणी की क्रियारहित भगवान आत्मा स्वाभाविक गुणरत्नों की खान है-वह अन्दर लक्ष्य करे तो गुण प्रगट हों। जहाँ हो, वहाँ खोदे तो निकले न! मिट्टी की खान चाहे जितनी खोदे, तो भी उसमें से अनाज नहीं निकलता, उसी प्रकार पुण्य-पाप के विकार की खान अनादि से खोदता है, परन्तु वह तो राग है-विकार है, उसमें से अविकारी धर्म प्रगट नहीं होता। मावा चाहिए हो तो अफीमवाले की दुकान पर नहीं पूछता परन्तु कन्दोई के यहाँ ही जाता है, उसमें खबर पड़ती है, परन्तु धर्म कहाँ मिलता है? धर्म की दुकान कहाँ है? उसकी खबर नहीं होती। किसी स्थान में, वाणी में या बहियों में धर्म नहीं है, धर्म तो आत्मा में है, अन्यत्र कहीं नहीं। आत्मा ही अन्दर स्वाभाविक गुण का पिण्ड है, परन्तु उसकी खबर नहीं, इसलिए बाहर में माना है कि यह दया की, अथवा परजीव को बचा दिया, उसमें धर्म हो गया, परन्तु ऐसे दयादि के शुभभाव तो अनन्त बार कर चुका, परन्तु आत्मा को पहिचाना नहीं और आत्मा को पहिचाने बिना धर्म हुआ नहीं।

कोई कहता है कि—आत्मा तो केवलज्ञान हो, तब पहिचान में आवे न? तो ऐसा नहीं है। यह तो अभी मुनिदशा और श्रावकदशा के पहले की—सम्यग्दर्शन की भूमिका की बात है। मन, वाणी, देह से निराले आत्मस्वरूप का भान करना, वह सम्यग्दर्शन है

और वह प्रत्येक जीव पुरुषार्थ से कर सकता है। जिसकी मलिनबुद्धि है, वह बाहर में पुण्यादि की क्रिया में आत्मा के गुण शोधता है और जिसकी निर्मलबुद्धि वह अकेले ज्ञानमय स्वभाव में ही परिपूर्ण गुण भरे हैं, उसमें शोधता है। वस्तु तो परिपूर्ण त्रिकाल पड़ी ही है, पर्यायदृष्टि से देखता है; इसलिए अधूरा लगता है। निर्मलदृष्टिवाला तो निर्मल एकरूप शुद्ध आत्मा का (जो यहाँ बहुत दिन हुए, वर्णन किया जाता है उसका) ही भजन करता है। पर का-भगवान का भजन तो शुभराग है; पापभाव टालनेमात्र देव-गुरु की भक्ति है। यहाँ तो अपना ही भजन करने का कहा है। क्योंकि अपने लिये तो भगवान से भी स्वयं ही बड़ा है। भगवान चाहे जितना कहे परन्तु स्वयं न माने तो? जब स्वयं माने, तब स्वयं (अपने में) बड़ा हुआ। भगवान कहीं किसी को समझा नहीं देते या भक्ति करने से प्रसन्न नहीं होते, वे तो वीतराग हैं।

प्रश्न—लोगस्स में '**तित्थरा मे पसीयन्तु**' अर्थात् कि तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न होओ, ऐसा कहा है न?

उत्तर—वहाँ तो निमित्त से कहा है। भगवान को राग नहीं, इसलिए किसी पर प्रसन्न नहीं होते। 'तित्थरा मे पसीयन्तु' ऐसा निमित्त से बोला जाता है परन्तु वास्तव में तो अन्दर अपने स्वरूप की प्रसन्नता माँगी है।

यहाँ मुनिराज कहते हैं कि—

(मालिनी)

इति पर-गुण-पर्यायेषु सत्सूत्तमानां,
हृदय-सरसि-जाते राजते कारणात्मा।
सपदि समयसारं तं परं ब्रह्म-रूपं,
भज भजसि निजोत्थं भव्यशार्दूल स त्वम्।।२५।।

जो गुण खोजता है, उस खोजनेवाले में ही गुण भरे हैं; उत्कृष्ट गुण और निर्मल पर्याय प्रगट करे, तब उसके अन्तर में कारणरूप जो त्रिकाली द्रव्य पड़ा है, वह शोभायमान कहलाता है। अन्तर में कारण तो सब जीवों को समान ही पड़ा है, परन्तु कार्य की पर्याय उत्तम होने से कारणरूप आत्मा शोभायमान है।

आचार्यदेव पडकार करते हैं कि भव्यरूपी सिंह! जैसे सिंह का स्वभाव मृग को मार डालने का है, उसी प्रकार तेरा स्वभाव प्रकृति के रागादि को तोड़ डालने का-नाश करने का है। तू सिंहसमान शार्दूल—सिंह है।

हे भव्यरूपी सिंह! तू तीन लोक का नाथ चैतन्य भगवान है! एक बार तेरी पहिचान तो ला! जिसे स्वभाव अभी दृष्टि में आया नहीं और व्रत-तप करने लगा, उसे समझाते हैं कि (शुभभाव में) आत्मा का धर्म प्रविष्ट नहीं हो गया। पहले तो स्वभाव का भान चाहिए। यहाँ भव्यों को ही लिया है, अभव्य की बात ही नहीं। पहले आत्मा के स्वरूप की पहिचान करायी, पश्चात् परमब्रह्मरूप समयसार ऐसे आत्मा की ही सेवा करने को कहा।

हे शार्दूल—सिंह! चैतन्य भगवान! देहदेवल में छिपा हुआ तू परमब्रह्म परमात्मा ही है। तेरे लिये तू ही बड़ा है, तू न समझे तो साक्षात् तीर्थंकरदेव भी तुझे समझा नहीं सकते; तेरी चैतन्यज्योति में अनन्त गुण भरे हैं, उनकी पहिचान करना, वही सम्यग्दर्शन है। और उसमें एकाग्रता करने से केवलज्ञान प्रगट होता है। तेरी पूर्णता तेरे स्वभाव में तो त्रिकाल प्रगटती ही है। एकरूप चैतन्य दीपक दर्शन, ज्ञान, चारित्र, आनन्द का पिण्ड स्वभाव में ही उदयमान है। जैसे सूर्य तो पूर्ण प्रगट ही होता है, परन्तु अपनी आँख के आड़े छाबड़ी रखकर देखे तो पूरा सूर्य प्रगट होने पर भी उसे दिखाई नहीं देता, वहाँ सूर्य ढँका नहीं है परन्तु देखनेवाले की दृष्टि में आड़ है। उसी प्रकार आत्मा तो स्वभाव में पूर्ण प्रगट उदयमान है, परन्तु अपनी अवस्था में पूरा नहीं माना, इसलिए सूर्यरूप पूरा अखण्डानन्द चैतन्यसूर्य दिखाई नहीं देता, उसका कारण अवस्था में उल्टी मान्यता की छाबड़ी से स्वयं ढँका है। पूरा चैतन्यसूर्य स्वभाव से प्रगट होने पर भी अवस्था दृष्टि से ढँका हुआ माना है।

टीकाकार मुनिराज भावना करते हैं—

(पृथ्वी)

क्वचिल्लसति सद्गुणैः क्वचिदशुद्धरूपैर्गुणैः,
क्वचित्सहजपर्ययैः क्वचिदशुद्धपर्यायकैः।

सनाथ-मपि जीव-तत्त्व-मनाथं समस्तैरिदं,
नमामि परिभावयामि सकलार्थसिद्ध्यै सदा।।२६।।

यह आत्मा कहीं अपने स्वाभाविक गुणों से शोभता है, कहीं अशुद्ध गुणों से विराजता है। कहीं स्वाभाविक पर्याय से शोभता है और कहीं विभाविक पर्याय से शोभता है। इस प्रकार भले अवस्था में निर्मलता या अशुद्धता हो, परन्तु भगवान आत्मा तो जितने विभाविक गुण-पर्याय है, उन सर्व से रहित अकेला, चैतन्यगुण की खान है। मैं सदा मेरे मोक्ष के पूर्ण प्रयोजन की सिद्धि के लिये ऐसे चैतन्यतत्त्व में नमता हूँ और उसकी बारम्बार चिन्तवना करता हूँ—ऐसा टीकाकार आचार्यदेव ऊपर के कलश में कहते हैं।

स्वयं त्रिकाल भगवान ही है परन्तु उसे भान नहीं कि मैं कौन हूँ। जो भगवान हुए वे, जिस समय प्रगट भगवान हुए, उस समय पहले भी भगवान ही थे, ऐसा त्रिकाली भगवान स्वरूप आत्मतत्त्व अन्दर परिपूर्ण है, उसे आदर और भक्ति करता हूँ और उसका बारम्बार चिन्तवन करता हूँ।

इस प्रकार आत्मतत्त्व को प्रथम बतलाया, पश्चात् भावना की कि ऐसे तत्त्व में नमता हूँ और उसे ही भजता हूँ।

गाथा-१५

अब स्वभाव-विभावपर्याय को विस्तार से कहते हैं।

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विहावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।१५।।

नरनारकतिर्यक्सुराः पर्यायास्ते विभावा इति भणिताः।
कर्मोपाधिविवर्जितपर्यायास्ते स्वभावा इति भणिताः।।१५।।

अर्थ—नर, नरक, पशु और देव यह चार मुख्य विभावपर्याय कहलाती है और जो कर्म की उपाधिरहित है, वह स्वभावपर्याय है।

नर = मनुष्यदेह के अन्दर का आत्मा का आकार वह; शरीर तो जड़ है, वह यहाँ नहीं लेना है।

नारकी = नारकी का शरीर भी नहीं, परन्तु उसके आकार से आत्मा का आकार।

देव और पशु = उनके बाह्य शरीर नहीं परन्तु शरीराकार आत्मा का आकार। यह चारों विभावपर्याय है। कर्म के होने की या अभाव की उपाधिरहित जो त्रिकाली अवस्था, वह स्वभावपर्याय है। स्व-भाव=आत्मा की निर्मल अवस्था; अवस्था के दो प्रकार कहे— (१) स्वाभाविक अवस्था - वह त्रिकाल एकरूप रहती है। (२) विभाविक अवस्था - आत्मा वह का वह रहकर अन्दर अवस्था बदलती है। समकिती को आत्मा की पहिचान कैसी होती है और आत्मा कैसा ख्याल में आता है, यह कहा जाता है।

प्रश्न—आप तो हमेशा सम्यग्दर्शन की ही बात करते हो।

उत्तर—सम्यग्दर्शन, वही मोक्ष का कारण है। सम्यग्दर्शन कहता है कि 'मुझे धारण करने के पश्चात् तेरी इच्छा होगी तो भी तुझसे मलिनता नहीं रखी जा सकेगी, मोक्ष में आना ही पड़ेगा!' मोक्ष का पहला ही सोपान सम्यग्दर्शन है, इसके बिना सब हवाई किला है—कल्पना है, इसलिए प्रथम सम्यग्दर्शन वही कर्तव्य है।

आचार्यदेव कहते हैं कि सुन! मैं आत्मा की अवस्था का वर्णन करता हूँ। आत्मा की अवस्था दो प्रकार की है—(१) स्वभावदशा, (२) विभावदशा। स्वभावदशा के दो प्रकार हैं:—(१) कारणशुद्धपर्याय, (२) कार्यशुद्धपर्याय। उसमें कारणशुद्धदशा तो निगोद से लेकर सिद्ध तक सब जीवों को त्रिकाल है और जब केवलज्ञान, केवलदर्शन इत्यादि प्रगट हो, तब कार्यशुद्धदशा प्रगट हुई कहलाये—इसका कारण प्रत्येक जीव को त्रिकाल है, अभव्य को भी त्रिकाल है परन्तु अभव्य को उसकी प्रगट कार्यरूप दशा नहीं होती (-वह पुरुषार्थ ही नहीं करता)।

यह अकेली अध्यात्म की बात है। बहुत जीवों को तो यह शब्द भी कभी कान में नहीं पड़े हों, लोग बाहर देखे तो आत्मा दिखाई नहीं देता और अन्दर देखे तो अन्धेरा दिखाई देता है; कभी सुना न हो और यह बात कान में पड़े—वहाँ कहे—ऐसी सूक्ष्म बात करने की अपेक्षा अपन ने स्थूल बात मान रखी है, वह ठीक है—परन्तु भाई! यह तेरी ही बात है। यह जीव अधिकार है, और जीव का ही वर्णन है। जीव की त्रिकाली एकरूप पर्याय, वह कारणशुद्धदशा है। पूर्ण वस्तु और अनन्त गुण की खान तो निगोद से लेकर सब जीवों में पड़ी हुई ही है, परन्तु अज्ञानी को उसकी खबर नहीं, इसलिए पर के ऊपर लक्ष्य करके चौरासी के अवतार में भटकता है।

शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से अन्तर निर्मल दृष्टि से देखने पर शुरुआत और अन्त से रहित, अमूर्तिक, स्वभाव से ही अतीन्द्रिय ऐसा ज्ञान त्रिकाल है—वह स्वभाव से ही शुद्ध है। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान वह तो ज्ञान की प्रगटरूप अवस्थायें हैं और यह ज्ञान तो सहज पारिणामिकस्वभावभाव, जिसे किसी की अपेक्षा लागू नहीं पड़ती, ऐसा है। ऐसा अकेला ज्ञानस्वभाव त्रिकाल निरपेक्ष है, उसके साथ कारणशुद्धपर्याय भी त्रिकाल एकरूप रही है। सहज स्वभाव से ही शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य इत्यादि गुण त्रिकाल पड़े हैं। परमवीतराग सुखरूप आनन्द, वह भी त्रिकाल है; पाँच इन्द्रियाँ या मन-वचन से पार तथा प्रगट अवस्था (मति, श्रुत या केवल) से भी पार ऐसा परमवीतराग शुद्ध अन्तर तत्त्व है, वह स्वभावमय अनन्त चतुष्टय त्रिकाली है। भगवान केवलज्ञानी को जो अनन्त चतुष्टय प्रगट होता है, वह तो

कार्य है, वह नहीं—परन्तु अन्दर जो त्रिकाली कारण पड़ा है, उस स्वरूप चतुष्टय की यह बात है।

सर्वज्ञ ने अपने घर की कल्पित की हुई बात नहीं कही है, परन्तु वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा अपने सम्पूर्ण ज्ञान में ज्ञात हुआ, वही कहा है, उसे जाने बिना तू जायेगा कहाँ? यह बात बहुत लोगों को जिन्दगी में ५०-५० वर्ष हुए परन्तु कान में न पड़ी हो, ऐसी है-तथापि बात तो आत्मा की ही है, उसकी बात है और उसमें ध्यान रखे तो अवश्य समझ में आये। अपना स्वरूप अपने को न समझ में आये, ऐसा नहीं होता। सब जीवों का स्वरूप ही ऐसा है, परन्तु स्वयं अपना स्वरूप कभी जाना नहीं।

प्रश्न—आप देह और आत्मा भिन्न कहते हो, परन्तु यदि भिन्न हो तो आत्मा भिन्न निकालकर क्यों नहीं दिखलाते?

उत्तर—आत्मा को देखने के लिये आँखें तो देखनेवाले की स्वयं की चाहिए न? बाहर की आँखों से आत्मा दिखाई दे, ऐसा नहीं है। आत्मा को देखने के लिये पहले उसका ज्ञान करना पड़ेगा। उस ज्ञान की विधि यहाँ कही जाती है। देह और आत्मा भिन्न है, यह बात भी समझे बिना ५०-५० वर्ष धर्मस्थानक में बैठा रहे तो भी आत्मा को पहिचाने बिना धर्म हो, ऐसा नहीं है।

सच्चा समझे बिना बाहर में धर्म मान बैठता है। समझानेवाला स्वयं सत्य समझा हो तो दूसरे को समझा सके न? कुएँ में हो तो हौज में आवे न? इसी प्रकार सत्य के समझानेवाले हों, वहाँ से सत्य मिले न? बाकी तो समझे बिना झुकाये रखता है और झुकनेवाले भी मिले रहते हैं।

वर्तमान अवस्था में उघड़ा हुआ ज्ञान है, वह नहीं, परन्तु अन्दर एकरूप स्वाभाविक दर्शन-ज्ञान-चारित्र-सुख-आनन्द है, वह निजस्वरूप ही है। उसमें कुछ प्रगटना या आवरणपना नहीं है-एकरूप निरपेक्षस्वरूप है, वही निजस्वरूप है और वही सम्यग्दर्शन का विषय (लक्ष्य-भेद) है। यह आत्मा त्रिकाल अखण्ड एकरूप है। निजस्वरूप में फेरफार या न्यूनाधिकता नहीं होती। आत्मा का स्वरूप तो एकरूप है-उस स्वरूप का उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षायिक इन चार भावोंरहित पाँचवाँ पारिणामिकभाव है,

उसके अन्दर एक परिणति (अर्थात् अवस्था) है, वही कारणशुद्धपर्याय है। वह परिणति है, तथापि उसका प्रगटरूप परिणमन नहीं है, वह अवस्था तीनों काल एक सरीखी-पूरी ही है, उसमें हीन-अधूरी या पूरी, ऐसा कोई भेद ही नहीं है।

उदय-उपशम-क्षयोपशम या क्षायिक अवस्था होती है, वह जीव की है। परन्तु उस अवस्था की अपेक्षा बिना का त्रिकाल एकरूप ध्रुवद्रव्य है, वही सम्यग्दर्शन का विषय है। जैसे पानी में तरंग होती है, तथापि पानी तो कायम एकरूप पड़ा ही है। पानी एकरूप रहता है और उसमें लहरें उठती हैं—दोनों भिन्न नहीं हैं। लहरें ऊपर में-बाहर की सपाटी से छोटी-बड़ी है, परन्तु अन्दर की सपाटी तो प्रत्येक लहर के समय एक सरीखी ही रहती है। पानी के ऊपर लहरों का भाग तो अमुक ही है—अन्दर तो एकरूप सपाटी है, वह सपाटी एकरूप है और अन्दर का पानी का दल (सपाटी के बाद पानी की जो गहराई वह), एकरूप ही है। उसी प्रकार आत्मारूपी समुद्र में उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षायिकपर्याय, वह तो अपेक्षित भाव हैं। तरंग समान हैं और अन्दर जो सपाटी का अंश (पारिणामिकभाव की पर्याय), वह कारणशुद्धपर्याय एकरूप सपाटी समान है और वस्तु, वह द्रव्य-गुण का एकरूप दल है।

परिणति अर्थात् शक्तिरूप अवस्था, वह त्रिकाल एकरूप है। जैसा सामान्य कायम एकरूप है, वैसा ही उसका विशेष (परिणति) एकरूप कायम है; उसमें 'वर्तमान... वर्तमान' कहलाती है, तथापि एकरूप ध्रुव है। वर्तमान... वर्तमान कहलाये, तथापि उसमें उत्पाद-व्ययरूप परिणमन नहीं है। नित्य ध्रुवरूप परिणति को भगवान कारणशुद्धपर्याय कहते हैं।

'शुद्धपारिणामिकभाव' ऐसा कहते ही उसमें 'परिणमता है', ऐसी ध्वनि आती है। परिणमता है अर्थात् द्रव्य-गुण का वर्तमानरूप है, इस प्रकार दोनों होकर (सामान्यरूप द्रव्य और उसके विशेषरूप कारणशुद्धपर्याय, यह दोनों होकर) द्रव्य की पूर्णता है।

यह सब बात केवली को नहीं कही जाती, परन्तु अभी तो सम्यग्दर्शन प्रगट करने का कारण कहा जाता है; सूक्ष्म पड़े, ऐसी बात है, परन्तु जैसे ऋतु गर्मी की हो, तब बारीक पहनने का हो, वहाँ मोटा कपड़ा पहनने से उकलाहट होगी, उसी प्रकार यह

अवसर सूक्ष्म समझने का है; उसमें सूक्ष्म बुद्धि चाहिए, सूक्ष्म (अरूपी) आत्मा की मुक्ति के लिये सूक्ष्म ज्ञान धारे बिना संसार की अकलाहट उड़ेगी नहीं और स्थूलबुद्धि से चौरासी में जन्म-मरण का धाम होगा।

कारणशुद्धपर्याय का मनन, वह कार्यशुद्धपर्याय का कारण है। वस्तु त्रिकाल, वस्तु के सब गुण त्रिकाल और एक-एक गुण की अवस्था, वह भी त्रिकाल एक सरीखी—ये तीनों होकर पूर्ण द्रव्य है; और उस द्रव्य के लक्ष्य से निर्मल पर्याय प्रगट होती है। जो अवस्था प्रगट होती है, वह अवस्था (उत्पाद-व्ययवाली अवस्था) भोगवटा की है और वह अवस्था अन्दर में त्रिकाल एकरूप टिकनेवाली ध्रुव अवस्था के आधार से प्रगट होती है।

★★★★★

व्याख्यान नं. १८, दिनांक ०७-०५-१९४४, रविवार

गाथा पन्द्रहवीं चालू।

परमहितकारी सूक्ष्म अधिकार है। न समझ में आये तो भी ध्यान रखना। बात एकदम नयी है, विषय अत्यन्त सूक्ष्म है। वस्तुस्वरूप ही कहा जाता है। सम्यग्दर्शन, वह मोक्ष का पहला सोपान है। उस सम्यग्दर्शन का आधार कौन सा तत्त्व है? यह आत्मा अखण्ड वस्तु है। सम्यग्दर्शन का आधार अखण्ड वस्तु ही है। उस वस्तु के आधार से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। आत्मा किसे कहना? कि जिसके आधार से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तथा जो केवलज्ञानदशा का कारण है, उसे।

वह आत्मतत्त्व कितना और कैसा है? आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है। उस वस्तु में ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, बल, अस्तित्व इत्यादि अनन्त गुण का पिण्डरूप है। वस्तु के आकार वस्तु की अवस्था होती है, उसमें (वस्तु में) अपने स्वभाव से होती अवस्था में रागादि विकार नहीं होता। जैसे शक्कर में मिठास, सफेदी इत्यादि उसके गुण हैं, उसकी अवस्था यदि शक्कर के आकार हो तो पूरी मीठी और सफेद होती है, परन्तु यदि साथ में काली जीरी हो तो शक्कर की अवस्था में कड़वाहट लगती है। परन्तु वस्तु स्वयं—शक्कर की डली—कड़वाहटरूप नहीं हो जाती। यदि स्व-स्वभाव से अवस्था हो तो उसमें कड़वाहट या मिठास की अधूराश नहीं हो सकती; उसी प्रकार आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड, उसके गुण कायम हैं। उन गुण की वर्तमान अवस्था यदि गुण के ही आधार से हो तो वह अवस्था पूरी-पूरी शुद्ध हो।

आत्मा-वस्तु में अनन्त गुण हैं, वह द्रव्य की अवस्था कहो या एक-एक गुण की अवस्था कहो, वह यदि गुण के आधार से हो, तब तो पूरी ही होगी। आत्मा वस्तु और उसके अनन्त गुण त्रिकाल हैं, उसकी अवस्था अपनी हीन हो सकती ही नहीं। रागादि की वृत्ति हो, वह अवस्था अन्तर आकार का भाव नहीं है, परन्तु कर्म की ओर के लक्ष्य के आकारवाला भाव है।

शक्कर, शक्कर का गुण और उसकी अवस्था, ये तीनों एकरूप पूर्ण मीठी ही

होती है, उसमें जरा भी फीकापन, वह शक्कर का वास्तविक स्वरूप नहीं है। उसी प्रकार आत्मा में ज्ञानगुण में मति-श्रुत इत्यादि हीन अवस्था है, वह अपेक्षित अवस्था है। सम्यक् मति और सम्यक् श्रुत भी अपेक्षित है। पूर्ण गुण के आधार से तो पूरी अवस्था ही होती है और जैसे द्रव्य और गुण पूर्ण हैं, वैसी ही उसकी पूर्ण अवस्था कायम हो तो ही वस्तु पूरी कहलाती है। रागादि की अवस्था स्वभाव के आधार से नहीं, परन्तु निमित्त के आधार से है; जितने विकल्प या राग है, वे सब कर्म के आधार से होते हैं, वस्तु के आधार से राग या विकल्प नहीं होते। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवस्था आती है तो गुण में से, परन्तु वह अभी साधकपर्याय है और साधकपर्याय, वह वास्तविक स्वरूप नहीं है, इसलिए वह वस्तु के आकार की अवस्था नहीं है। सम्यग्दर्शन चौथी भूमिका से होता है, वह श्रद्धागुण की एक निर्मल अवस्था है; सम्यग्दर्शन स्वयं हीन अवस्था है परन्तु उसकी मान्यता का विषय (ध्येय) जो स्वभाव, वह परिपूर्ण है। यदि परिपूर्ण को लक्ष्य में न ले तो वह सम्यग्दर्शन नहीं है।

क्षायिक समकित भी कर्म के (अभावरूप) निमित्तवाली पर्याय है, परम अवगाढ समकित, वह भी अपेक्षित पर्याय है; आत्मा और उसके त्रिकाली गुणों की वर्तमान स्व-आकार अवस्था तो एक सरीखी और पूरी-पूरी ही होती है। यह विषय क्या है ? आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप कहा जाता है। आत्मा वस्तु और उसके अनन्त गुण, वे तो सब जीवों में त्रिकाल समान ही है। अखण्ड अनादि-अनन्त एकरूप वस्तु और गुण में सिद्ध को और निगोद को कोई अन्तर नहीं है; अन्तर मात्र वर्तमान चलती अपेक्षित पर्याय में है। किसी समय मिथ्याश्रद्धा, किसी समय सम्यक्श्रद्धा, यह सब अपेक्षित अवस्था के प्रकार हैं। निरपेक्ष कारणपर्याय तो त्रिकाल एकरूप है। जैसे द्रव्य-गुण हैं, वैसा ही उनका आकार-अवस्था एकरूप त्रिकाल रहे, वही कारणशुद्धपर्याय है। यह केवलज्ञानपर्याय की बात नहीं। केवलज्ञान भी व्यवहार है, भगवान को परिपूर्ण आनन्द प्रगट हुआ, वह भी व्यवहार है, क्योंकि वह कार्य है और यहाँ तो जिसके जोर से वह कार्य प्रगट हुआ, उस त्रिकाली एकरूप कारण की बात है। निर्मल अखण्ड एकरूप वस्तु कहो या असली एकरूप स्वरूप कहो, उसमें अन्तर नहीं है। निश्चयस्वरूप अर्थात् सच्चा स्वरूप, असली। आत्मा में रागादि हों या केवलज्ञान और मोक्षपर्याय

प्रगटे, वह सब त्रिकाल एकरूप अवस्था नहीं है, परन्तु समय-समय में उस अवस्था में उत्पाद-व्यय हुआ करते हैं। यहाँ तो पूरी वस्तु और गुण के आकार जो पूरी अवस्था नित्य उत्पाद-व्ययरहित एकरूप है, वही कारणशुद्धपर्याय है-उसकी बात है। यदि पूरी वस्तु जैसी ही एकरूप पर्याय न हो तो वस्तु ही सिद्ध नहीं होती। अरे! अरूपी निर्मल यथाख्यातचारित्र, वह भी व्यवहार है। वह त्रिकाल एकरूप नहीं। जो त्रिकाल एकरूप रहे, वही सम्यग्दर्शन का आधार (लक्ष्य, ध्येय) है और वही वस्तु का त्रिकाली स्वरूप है।

जो वस्तु हो, उसमें उस वस्तु के आधार से वस्तु का वर्तमान... वर्तमान होता ही है। (वर्तमान कहो या पर्याय कहो, दोनों एक है) जो पर्याय वस्तु के आधार से हो, उसमें हीनता नहीं होती। द्रव्य, द्रव्य के गुण और द्रव्य के आधार से पर्याय, ये तीन होकर जो पूरी वस्तु, वही सम्यग्दर्शन का ध्येय है। अनन्त-अनन्त गुण-पर्याय का पिण्ड जो वस्तु, वही सम्यग्दर्शन का विषय है।

कारणपर्याय अर्थात् क्या? गुण की अवस्था उघड़े, वह नहीं; जो अवस्था उघड़ती है, वह तो क्षणिक है; केवलज्ञान भी क्षणिक पर्याय है। केवलज्ञान के भी दो समय इकट्ठे नहीं होते, वह एक समय मात्र की ही अवस्था है। केवलज्ञान, वह गुण नहीं किन्तु अवस्था है। त्रिकाली ज्ञान, वह गुण है। उस ज्ञानगुण की एक त्रिकाली एक सरीखी अवस्था है, वही शुद्धकारणपर्याय है। जैसे शक्कर की मिठास शक्कर के आधार से पूरी ही होती है, उसी प्रकार गुण के आधार से गुण की अवस्था पूरी ही होती है। आत्मा में रागादि या सम्यग्दर्शनादि अवस्था, वह एक समयमात्र की ही है, केवलज्ञान भी एकसमय मात्र का है; समय-समय करते भले लम्बे समय रहे परन्तु एक साथ दो समय की अवस्था हो जाये, ऐसा तीन काल में नहीं होता। केवलज्ञानी भगवान का केवलज्ञान भी एक समयमात्र का ही है। उस प्रवर्तित अवस्था के समय आत्मा, आत्मा के गुण और उसकी पूरी-पूरी अनादि-अनन्त एकरूप अवस्था पड़ी है, उस अवस्था को कारणपर्याय कहा जाता है; और वह द्रव्य-गुण तथा कारणपर्याय से वस्तु की पूर्णता है—उसे ही पारिणामिकभाव कहा जाता है। केवलज्ञान स्वयं पर्याय है, वह बदल-बदलकर सादि-अनन्त एकरूप रहती है; और आत्मा, आत्मा के गुण और उसकी पूरी

अवस्था अनादि-अनन्त एकरूप है, उसके लक्ष्य से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; केवलज्ञान के लक्ष्य से भी सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट होती है, ऐसा कहना, वह तो वस्तु में भेद पड़ता है। पहले नहीं था और बाद में प्रगट हुआ, ऐसे भेद वस्तु में नहीं हैं। वस्तु तीनों काल एक सरीखी है। सिद्धपर्याय पूरी वस्तु नहीं, वह तो एक अवस्था है।

जब सिद्धदशा और केवलज्ञान भी व्यवहार है और उसके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन नहीं; तब पुण्य की क्रिया तो कहीं रह गयी! और शरीरादि जड़ का करना तो कहीं गया! यह तो सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा का जैसा स्वभाव देखा, वैसा ही कहा है और वैसा ही मानना, वह सम्यग्दर्शन है। रागादि को अपना माने, वह तो जैन ही नहीं। जैन कहना किसे? जैन अर्थात् जीतनेवाला। हीन और विकारी अवस्था को अखण्ड द्रव्य के आश्रय से जीते, वह जैन। अखण्ड द्रव्य की श्रद्धा बिना सच्चा जैनपना नहीं होता।

आत्मा में अनन्त गुण हैं और उस प्रत्येक गुण की पूरी अवस्था त्रिकाल है। केवलज्ञान प्रगटे, वह व्यवहार और निगोद के आत्मा में भी पूरी-पूरी अवस्था त्रिकाल पड़ी है, वह निश्चय, क्योंकि वह तीनों काल रहनेवाली है और केवलज्ञान तो नहीं था और प्रगट हुआ, ऐसा भेद पड़ता है।

अहो! सन्तों ने केवली के अन्तर में रहे हुए रहस्य खुल्ले रख दिये हैं, आचार्यदेव ने अध्यात्म का गहरा पेट खोला है। आचार्य भगवन्तों ने शासन जीवन्त रखा है।

आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र, वह त्रिकाली असली स्वरूप नहीं, केवलज्ञान भी त्रिकाली व असल स्वरूप नहीं, इसलिए वह अभूतार्थ है। भूतार्थ (त्रिकाल रहनेवाली) तो वस्तु, वस्तु के गुण और गुण के आधार से पूरी अवस्था, वे तीनों एकरूप हैं, उसके ही आधार से केवलज्ञान प्रगट होता है। बाहर की पर्याय नहीं। शरीर, वह जड़; राग-द्वेष, वह विकारी; सम्यग्दर्शन, वह अपेक्षित पर्याय और केवलज्ञान, वह नयी अवस्था—यह कोई नहीं, परन्तु आत्मा के त्रिकाली गुण के आधार से वर्तती अवस्था जो त्रिकाल एकरूप है—उस पर्याय की बात है।

कारणपर्याय का वर्णन करने का हेतु यह है कि—जैसे वस्तु और गुण पूरे हैं,

वैसे उसकी पर्याय भी पूरी ही है—यह बतलाना है। जैसे आकाशद्रव्य, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालद्रव्य—ये सब अनादि-अनन्त वस्तु है, उसमें उत्पाद-व्यय त्रिकाल एकरूप है—पर की अपेक्षा उन्हें नहीं, उसी प्रकार आत्मा भी अनादि-अनन्त वस्तु है, उसमें भी गुण की पूरी अवस्था वही यदि उसके आकार न हो तो आत्मतत्त्व अधूरा रहता है। क्योंकि जैसे सामान्य त्रिकाल एक सरीखा, उसी प्रकार उस सामान्य के आश्रय से उसका विशेष भी परिपूर्ण होना ही चाहिए; तब ही वस्तु की पूर्णता है। केवलज्ञानपर्याय तो भेददृष्टि का विषय है; उसका आश्रय दृष्टि को नहीं है। आश्रय तो त्रिकाली वस्तु का ही होता है।

प्रश्न—भगवान को केवलज्ञान है, उसका उन्हें आश्रय है न?

उत्तर—भगवान को केवलज्ञान है, परन्तु भगवान को केवलज्ञान का आश्रय नहीं है परन्तु केवलज्ञान को भगवान का आश्रय है। केवलज्ञान तो एकसमयमात्र की अवस्था है। भगवान आत्मा तो त्रिकाली है, त्रिकाली द्रव्य एकसमयमात्र की पर्याय के आश्रय से नहीं है, परन्तु एकसमयमात्र की पर्याय त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से है। यदि भगवान को केवलज्ञानपर्याय का आश्रय हो तो, केवलज्ञान तो दूसरे समय में बदल जाता है, इसलिए आश्रय का अभाव होने से भगवान का भी नाश हो जाये। इसलिए भगवान को केवलज्ञान का आश्रय नहीं है।

उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव का आश्रय भी सम्यग्दर्शन को नहीं है, वे चार भाव निम्नानुसार हैं।

१— **उदयभावः**—उदय कर्म के निमित्त में जुड़ने से होनेवाला भाव, वह उदयभाव है, वह एकसमयमात्र का है, उसका आश्रय सम्यग्दर्शन को नहीं है; क्योंकि पर्याय एकसमयमात्र की है, और छद्मस्थ का उपयोग असंख्य समय का है। असंख्य समय का उपयोग, एक समय की पर्याय का लक्ष्य करने जाने पर स्थिर नहीं रह सकता, परन्तु वस्तु परिपूर्ण एकरूप ध्रुव त्रिकाल है, उसके लक्ष्य से उपयोग स्थिर हो सकता है; इसलिए सम्यग्दर्शन का लक्ष्य परिपूर्ण वस्तु पर ही है, पर्याय पर नहीं।

२— **उपशमभावः**—आत्मा के पुरुषार्थ से अशुद्धता का प्रगट न होना अर्थात्

कर्म का प्रगटरूप कर्मफल न आना, वह उपशम है; वह भी एकसमयमात्र की अवस्था है। समय-समय करके भले अन्तर्मुहूर्त रहे, परन्तु अवस्था तो एक समय में एक ही होती है, उसका भी आश्रय सम्यग्दर्शन को नहीं है।

३— **क्षयोपशमभावः**—आत्मा के पुरुषार्थ से गुण का आंशिक उघाड़ होना, वह क्षयोपशम है; वह भी एकसमयमात्र की अवस्था है। क्षयोपशम समकित का उत्कृष्ट काल ६६ सागर कहा है, परन्तु वह समय-समय बदलकर उतना काल रहता है। एक समय में प्रगट अवस्था एक ही होती है—उसके आश्रय से (लक्ष्य से) भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

४— **क्षायिकभावः**—आत्मा के पुरुषार्थ से सर्व आवरण का क्षय होने पर जो परिपूर्ण अवस्था प्रगट होती है, वह क्षायिकभाव है; केवलज्ञान निचलीदशा में तो है नहीं; जो नहीं, उसका आश्रय क्या? और जो पर्याय है, वह तो अधूरी है; अधूरी के आश्रय से पूरी दशा नहीं आती। और केवलज्ञान तो प्रगट है नहीं; जो नहीं है, उसका आश्रय नहीं हो सकता; इसलिए त्रिकाल एकरूप वस्तु ही सम्यग्दर्शन का आश्रय है। जो त्रिकाल एकरूप वस्तु है, उसके आश्रय बिना सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। सम्यग्दर्शन के लिये तो पूरा आधार चाहिए। आत्मा के भान के बाद भी, सामान्य वस्तु, गुण और पर्याय जो त्रिकाल एकरूप है, उसके आधार बिना केवलज्ञान नहीं होता।

यह आत्मा की बात है, आत्मा को तो सब समझ में आता है; यह तो आत्मा का अपना विषय है। उसके अनन्त गुण-पर्याय का सामर्थ्य तो केवली भगवान ही जान सकते हैं, वे भी वाणी द्वारा पूरा नहीं कह सकते। अनन्त गुणों की एक समय में पूरे आकाररूप अवस्था, उसे कारणशुद्धपर्याय कहते हैं। ज्ञान का उपयोग (ज्ञानगुण की अवस्था) त्रिकाल एकरूप पूरा-पूरा है, उसे कारण उपयोग कहा; यहाँ एक-एक गुण की पूरी ध्रुव शुद्धपर्याय, उसे कारणशुद्धपर्याय कहते हैं, इसका नाम ही द्रव्यदृष्टि है। 'द्रव्यदृष्टि, वही सम्यग्दृष्टि है।' यह द्रव्यदृष्टि की व्याख्या चलती है। पूरी वस्तु और उसके सब गुणों की अपेक्षा बिना की पूरी दशा, वही सम्यग्दर्शन का आश्रय है। जो भेद-विकल्प का आश्रय करे, वह तो मिथ्यादृष्टि है। रागादि के शुभाशुभभाव का आश्रय

करे, वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है और जो शरीरादि की क्रिया मुझसे होती है, ऐसा माने, वह तो व्यवहार से भी जैन ही नहीं है। समकित होने के बाद के व्रत, तप से कोई आत्मा का गुण माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो इतने तक कहा है कि अन्दर जो पूर्ण वीतरागदशा और केवलज्ञान प्रगट हो, उसका आधार मानना, वह व्यवहार है, क्योंकि वह एकसमयमात्र की अवस्था है। समयमात्र की अवस्था के समय अन्दर वस्तु, गुण और पर्याय से पूर्ण भरपूर तत्त्व पड़ा है, वही सम्यग्दृष्टि का आश्रय है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। कोई कहे कि यह केवली की या मुनिदशा की बात है— तो ऐसा नहीं है; यह तो अभी जैनदर्शन का एकड़ा और केवलज्ञान प्रगट होने का कारण जो सम्यग्दर्शन, वह कैसे प्रगट होता है, यह कहा जाता है। द्रव्य, गुण और उसकी पूर्ण अवस्था कही, उसकी दृष्टि, वही केवलज्ञान प्रगट होने का कारण है।

कोई भी वस्तु उसके स्वभाव से अधूरी नहीं हो सकती। वस्तु, उसके कायमी असली गुण और उसकी अवस्था जो उसके आश्रय से हो तो उसमें हीनता नहीं हो सकती। वस्तु, गुण और उसकी अवस्था, वह त्रिकाल पूरे-पूरे हैं, वह कारण है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस प्रकार कारणशुद्धपर्याय का स्वरूप कहा।

अब कार्यशुद्धपर्याय की बात करते हैं :—'शुद्धसद्भूतव्यवहार से सादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले केवलज्ञान-केवलदर्शन केवलसुख-केवलवीर्ययुक्त फलरूप अनन्त चतुष्टय के साथ रही हुई परम उत्कृष्ट क्षायिकभाव की शुद्धपरिणति, वही कार्यशुद्धपर्याय है।' केवलज्ञानपर्याय, वह आदिसहित है और ऊपर कही गयी वह कारणपर्याय आदि-अन्त से रहित है। केवलज्ञान नया प्रगट होता है, इसलिए वह आदिसहित है और प्रगट होने के बाद कायम सदृश-एकरूप रहता है, इसलिए अन्तरहित है।

प्रश्न—केवलज्ञान तो एकसमयमात्र की पर्याय है, उसे अन्तरहित क्यों कहा?

उत्तर—केवलज्ञान प्रगट होने के बाद वह नाश नहीं होता, समय-समय पर्याय बदलती है, परन्तु वह पर्याय कायम सदृश होती है। केवलज्ञान का नाश होकर कभी मतिज्ञान नहीं हो जाता, तथा वह पर्याय कभी हीन या विकारी नहीं हो जाती, इसलिए अन्तरहित कहा है। ऊपर जो परिपूर्ण वस्तु कही, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता से जो

केवलदशा प्रगट होती है, वह प्रगट होने के पश्चात् हीन या विकारी होनेवाली नहीं है, इसलिए वह अन्तरहित है, ऐसा कहा है। वह केवलज्ञान भी सद्भूतव्यवहार है।

सम्यक्त्व का विषय व्यवहार नहीं है, परन्तु अकेला निश्चय है। केवलज्ञान, वह शुद्धसद्भूतव्यवहार है। शुद्धसद्भूतव्यवहार किसलिए? यह कहते हैं। केवलज्ञान, वह परिपूर्ण निर्मलदशा है, इसलिए 'शुद्ध', आत्मा की अवस्था है, इसलिए 'सद्भूत' और एकसमयमात्र की अवस्था है, इसलिए 'व्यवहार', इस प्रकार केवलज्ञान शुद्धसद्भूत व्यवहार है। अभी तो केवलज्ञान व्यवहार है, उसके बदले जगत ने कहाँ व्यवहार को खींचा है? शरीर की क्रिया में व्यवहार मान बैठे, परन्तु वह क्रिया आत्मा की नहीं। आत्मा का व्यवहार जड़ में नहीं होता। केवलज्ञान के आधार से सम्यग्दर्शन प्रगटता नहीं, क्योंकि केवलज्ञान, वह व्यवहार है। व्यवहार के आधार से निश्चय प्रगटे, ऐसा मानना मिथ्यादर्शन शल्य है। व्यवहार भेदरूप है। भेद से अभेद प्रगट नहीं होता। अभेद के आधार से बीच में भेद आ जाये, वह भेद व्यवहार है। व्यवहार से निश्चय प्रगट नहीं होता परन्तु व्यवहार के अभाव से निश्चय प्रगट होता है। एकरूप त्रिकाली आत्मा, वह अभेद है, निश्चय है; और केवलज्ञान इत्यादि अवस्था प्रगट होती है, वह भेद है, व्यवहार है। त्रिकाल, वह अभेद और एक काल (वर्तमान काल), वह भेद। जो ज्ञान अवस्था के ऊपर लक्ष्य करे, वह व्यवहार है क्योंकि अवस्था व्यवहार है। जो व्यवहार का आश्रय करे, वह मिथ्यादृष्टि है; राग या विकल्प से धर्म होता है, ऐसा माने, वह जैन ही नहीं है।

यहाँ निश्चय वस्तु के जोर से जो पूर्ण कार्य प्रगट हुआ, उसकी बात है। अभी पूर्ण कार्य बतलाना है, इसलिए केवलज्ञान लिया है। पहले जो त्रिकाल एकरूप कारण कहा, उसकी श्रद्धा करने से जो फल आवे, उस फलरूप अनन्त चतुष्टय के साथ परम उत्कृष्ट क्षायिकभाव प्रगट होता है। केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलवीर्य यह चार अवस्था प्रगट हुई, उसके साथ क्षायिकभाव लिया। इन चार के आवरण में निमित्तरूप चार घातिकर्म का नाश होने से क्षायिकभाव का उत्पाद हुआ। यहाँ चार गुण ही मुख्य लिये हैं, इन चार के साथ दूसरे अनन्त गुण हैं, उन सबकी क्षायिकरूप परिणति हो गयी है। अनन्त चतुष्टय के साथ परम उत्कृष्ट क्षायिकभाव की परिणति, वही

कार्यशुद्ध पर्याय है। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द गुण त्रिकाल है और उनकी अवस्था त्रिकाल एकरूप है, वह कारणपर्याय है; उसकी श्रद्धा हुई और जो केवलज्ञानादि कार्य प्रगट हुआ, वह व्यवहार है।

प्रश्न—पहले व्यवहार या पहले निश्चय?

उत्तर—निश्चय—व्यवहार दोनों साथ ही है। निश्चय बिना व्यवहार नहीं हो सकता, निश्चय में बीच में व्यवहार आता है परन्तु निश्चय के आधार से ही सब गुणों की निर्मलदशा प्रगट होती है। व्यवहार के आश्रय में तो राग है, विकल्प है, उसके आधार से गुण की निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती।

अहा! नियमसार, महा ऊँची बात है। महाभाग्य है कि भगवान की दिव्यध्वनि का नाद आया कि जिसमें पूर्ण स्वभाव आया; और यह ठेठ से आयी हुई वाणी रह गयी। साक्षात् भगवान की वाणी का रहस्य शास्त्र में गूँथकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने महान उपकार किया है।

जगत बाहर में सुख मानता है, इसलिए पैसादि परवस्तु के संग्रह में सुख मानता है। अन्दर चैतन्य में ही अनन्त गुण-पर्याय का संग्रह पड़ा है, उसकी दृष्टि नहीं, इसलिए बाहर में पर का संग्रह करना चाहता है। परवस्तु का संग्रह करने की दृष्टि, वह मिथ्यादृष्टि है। अन्दर ज्ञान-आनन्द का अनन्त संग्रह पड़ा है, उसके ही आधार से सुख है, गुण का संग्रह करना पड़ा, ऐसा नहीं है। अनन्त गुण का रसकन्द चैतन्यमूर्ति भगवान पड़ा ही है—उस पर नजर करे तो पर-संग्रह की दृष्टि छूट जाये और स्वसन्मुख लक्ष्य करने से सुख प्रगट हो।

जिसने, पुण्य करूँ तो भविष्य में मदद करेगा—ऐसा माना, उसकी उल्टी मान्यता में मैं त्रिकाल विकारवाला उल्टा ही रहूँ और पर की गुलामी मुझे रहा ही करे, ऐसा आया। पुण्य अर्थात् विकार, विकार का फल मेरे अविकारी स्वभाव को मदद करे, ऐसा माना-अर्थात् विकार से लाभ माना और भविष्य में विकार की इच्छा की, वह मिथ्यादृष्टि ही है। पुण्य करूँ तो भविष्य में भगवान का संयोग मिले और भगवान के संयोग से मुझे लाभ होगा, ऐसा माने, वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्य करूँ और तीर्थंकर भगवान का संयोग

मिले, इसलिए मुझे लाभ हो, ऐसा माना, उस मान्यता में त्रिकाल पराश्रय का और संग्रहबुद्धि का मिथ्यात्वभाव पड़ा है। अन्दर त्रिकाली सत्स्वभाव पड़ा है, वही मददगार है, ऐसा न मानकर विकार को और पर को मददगार माना, इस मान्यता में अनन्त विकार और अनन्त पर के संग्रह के पराश्रयभाव का सेवन है। सत् समझते हुए बीच में निमित्त आवे, वह अलग बात है, परन्तु उसके कारण लाभ हो, ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। भगवान की स्तुति करूँ तो भगवान तिरा दे, यह बात खोटी है। भगवान तो कहते हैं कि मेरा आश्रय माँगे, वह मुझे पहिचानता नहीं है। ओंकार दिव्यध्वनि से वीतराग भगवान ढ़िंढ़ोरा पीटकर प्रसिद्ध करते हैं कि—'मेरा आश्रय माँगनेवाला मिथ्यादृष्टि है। मैं तेरा कुछ चोर गया हूँ, वह तुझसे वापस दूँ? तेरे गुण तेरे पास ही हैं। तेरा स्वभाव ही परमात्मा जैसा है। उसके आश्रय से ही केवलज्ञान प्रगट होता है; बाकी मैं तुझे कुछ दे दूँ, ऐसा नहीं है। मुझे भूल तो भगवान हो! मैं तुझसे भिन्न हूँ, इसलिए मेरा लक्ष्य करने से तुझे पराश्रय आयेगा—राग आयेगा। इसलिए मेरे आश्रय का लक्ष्य छोड़कर तेरे स्वाधीनस्वरूप का लक्ष्य कर। तो तेरी प्रभुता प्रगट होगी। तेरे गुण मेरे पास नहीं हैं, परन्तु तुझमें ही है।'—इस प्रकार भगवान तो सबकी ही स्वाधीनता ही बतलाते हैं।

कारणरूप त्रिकाली स्वभाव, वह निश्चय है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह व्यवहार है। केवलज्ञान भी व्यवहार है, क्योंकि वह एक समयमात्र की अवस्था है। एक समय रहे, उसका आधार नहीं होता। शुद्ध आत्मा के शुद्धनिश्चयस्वरूप को साधने से चार घातिकर्मों का नाश होकर केवलज्ञानादि प्रगट होते हैं, वह कार्य है। केवलज्ञान या सम्यग्दर्शनादि भी फेरफारवाली पर्याय है, उसमें समय-समय में उत्पाद-व्यय हुआ करता है। क्षायिकभाव प्रगट होने पर जो दशा प्रगट हुई, वह वापस नहीं पड़ती और एकरूप रहती है, इस अपेक्षा से अरिहन्तदशारूप शुद्ध कार्य की प्राप्ति हुई है और कारण तो त्रिकाल है ही।

प्रत्येक वस्तु में एक-एक समय में अगुरुलघुगुण की सूक्ष्म हानि-वृद्धिरूप अवस्था होती है—वह सब द्रव्यों में साधारण है। संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण तथा भाग हानि-वृद्धि—इस प्रकार षड्गुणी हानि-वृद्धि अगुरुलघुगुण की सूक्ष्म पर्याय है, उसे स्वभाव अर्थपर्याय कहते हैं। इस प्रकार शुद्धपर्याय के प्रकार कहे गये।

अब व्यंजनपर्याय कहते हैं:—इस जड़ शरीर का आकार, वह आत्मा की व्यंजनपर्याय नहीं है, परन्तु शरीर के आकार प्रमाण आत्मा के प्रदेशों का बाह्य-प्रगट आकार, वह व्यंजनपर्याय है। अन्दर अनन्त गुणों की पर्याय, वह अर्थपर्याय है और बाह्य प्रदेशों का आकार, वह व्यंजनपर्याय है। जो शरीर हो, उस शरीर प्रमाण आत्मा के प्रदेशों का आकार, वह व्यंजनपर्याय है; जो आदि और अन्तसहित, मूर्तिक (आकाररूप) और विभावरूप दिखती है, वह पुद्गल की व्यंजनपर्याय है।

आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसका यथार्थज्ञान, वह आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान बिना संसारी जीव शरीर की पर्याय पाते हैं, अर्थात् कि शरीर प्रमाण उनके आत्मप्रदेशों का आकार होता है। वहाँ जड़ शरीर, वह अपना है—ऐसा मानकर, उसके निमित्त से जो शुभ-अशुभ मिश्रपरिणाम जीव करता है, उसके फलरूप से जीव व्यवहार से मनुष्य होता है। मनुष्यपना, वह व्यवहार है। क्योंकि यदि परमार्थ से मनुष्यपना हो तो मनुष्यपना कभी टले नहीं, परन्तु मनुष्यपना व्यवहार से है। वास्तव में मनुष्यपना खोटा है—अर्थात् वास्तव में आत्मा मनुष्यदेह को धारण नहीं करता। मनुष्य इत्यादि पर्याय के आकार आत्मा के प्रदेशों का आकार, वह व्यंजनपर्याय है। शुभ-अशुभ मिश्रपरिणाम से आत्मा व्यवहार से नर होता है, शुभपरिणाम द्वारा देव; किंचित् शुभ के साथ माया-कपट के परिणाम से तिर्यंच और अशुभपरिणामों से नारकीपर्याय होता है। उसमें आत्मा के प्रदेशों का जो आकार, वह नर-नारकादि पर्याय है। प्रथम में (अर्थपर्याय में) गुण की अवस्था निमित्तवाली थी अर्थात् रागादिवाली अशुद्ध थी, वह आत्मा का स्वरूप नहीं और इस शरीरादि के निमित्त से जो व्यंजनपर्याय होती है, वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं; इसलिए उसरहित अन्दर का त्रिकाल शुद्धस्वरूप जानकर अन्तर में स्थिर होना, वही सुख का उपाय है।

★★★★★

नोट:—दिनांक ८-५-१९४४, सोमवार, वैशाख शुक्ल १५ के दिन श्री आत्मसिद्धि-स्वाध्याय होने से नियमसार का व्याख्यान बन्द था।

व्याख्यान नं. १९, दिनांक ०९-५-१९४४, मंगलवार

गाथा १५ चालू (पृष्ठ २७, नीचे से पाँचवीं लाईन)

आत्मा वस्तु से निर्मल, गुण से निर्मल और अवस्था से भी निर्मल है। आत्मा का अपना स्वरूप निर्मल है। कर्म के निमित्त से क्षणिक रागादि हों, वह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है, आत्मा वस्तु निर्मल, उसकी शक्ति निर्मल और वर्तमान हालत में भी अत्यन्त शुद्ध है। यह रागादिवाली हालत, वह आत्मा का स्वभाव नहीं; ऐसे आत्मा के स्वरूप का भान, वह आत्मज्ञान है। कर्म के निमित्त बिना का जिस प्रकार से स्वभाव है, उस प्रकार से जानने में न आया, इसलिए पर में लक्ष्य गया और इसीलिए शरीर और रागादि को अपना मानता है। अपना अन्तरस्वरूप ज्ञात नहीं हुआ, इसलिए कर्म के निमित्त से प्राप्त 'यह शरीरादि पर्याय, वही मैं हूँ' ऐसा मानता है। रागादिरहित स्वरूप नहीं समझ में आया, तब कहीं अपना अस्तित्व माने बिना जीव नहीं रहता; इसलिए शरीर मेरा, रागादि मेरे, इस प्रकार अवस्था को अपना स्वरूप मानता है और देह धारण किया करता है। आत्मज्ञान होने के पश्चात् देह मिलती ही नहीं। ज्ञान की निर्मल अवस्था ही मिला करती है। आत्मज्ञानी शरीर को अपना नहीं मानते। त्रिकाल शुद्धस्वभाव के भान में किसी गति का भव नहीं बँधता, परन्तु स्वभाव के अभान में अपने स्वभाव को पर में मानने से शुभाशुभभाव के निमित्त से व्यवहारनय से आत्मा की नरपर्याय होती है। जब असली परमात्मस्वरूप नहीं समझ में आया, तब जिसने शुभ-अशुभ मिश्रभाव जितना अपने को माना-वह व्यवहार से नर होता है; आत्मा के असंख्य प्रदेश की प्रगट आकृति होती है, वह व्यंजनपर्याय-वह नरपर्याय है।

जगत के गज स्थूल हैं, ज्ञानी का गज अन्तिम परमाणु है। पुद्गल का छोटे में छोटा अंश, वह परमाणु है और वह परमाणु आकाश के जितने भाग को रोके, वह प्रदेश है; उस प्रदेश के माप द्वारा मापने में आवे तो आत्मा असंख्य प्रदेशी चौड़ा है; चाहे जिस अवस्था में आत्मा असंख्य प्रदेश को रोकता है। प्रदेश अर्थात् अवयव—अंश और प्रदेशी अर्थात् अवयवी-आत्मा। मनुष्य शरीर जैसा आत्मा के प्रदेशों का आकार कर्म के निमित्त से होता है।

'शुभ-अशुभकर्म के निमित्त से आत्मा व्यवहार से मनुष्य होता है'—ऐसा कहा, उसमें मनुष्य अर्थात् यह जड़-शरीर नहीं परन्तु अरूपी आत्मप्रदेशों का आकार, वह मनुष्यपर्याय है। उस अवस्था को अपनी मानकर अज्ञानी उसे भोगता है; अन्दर त्रिकाली आनन्दस्वरूप को भूलकर मनुष्य आकृति के प्रति राग को भोगता है। जैसे सिद्धभगवान वीतराग हैं, वैसा ही परमार्थ से यह आत्मा है, परन्तु अपने वास्तविक स्वरूप के अभान में यह संसारी जीव किंचित् पुण्य-पाप से प्राप्त भावों और साथ में माय-कपट करे, उस भाव से उसे पशु का शरीर मिलता है, अर्थात् कि पशु के शरीर प्रमाण आत्मा के प्रदेशों का आकार होता है।

अनादि से शरीर को अपना मानने की जीवों को आदत पड़ गयी है। वह उल्टी आदत पाड़नेवाला ज्ञान है; ज्ञान में जो आदत पाड़े, वह पड़ती है। विकार को अपना मानता है, उसके बदले विकाररहित शुद्धस्वरूप की श्रद्धा की टेव पाड़े तो वह पड़ सकती है। यहाँ आत्मप्रदेशों का आकार किस प्रकार होता है, उसकी बात है, शरीर की बात अभी नहीं है, वह बाद में ली जायेगी। व्यवहारनय से तिर्यंचादि हो और ऐसे शरीर के प्रति राग करके राग को भोगे। शुद्धस्वभाव को भूलकर आकृति जितना माने, और चार गति में भटके। आत्मा के स्वभाव के भान बिना अकेले शुभपरिणामों से बाँधे हुए कर्म के निमित्त से वर्तमानमात्र आत्मप्रदेशों की देव के शरीर की जैसी आकृति हो अर्थात् देवशरीर मिले उसे तो 'शरीर, वही मैं' ऐसी मान्यता है। आत्मा के भान बिना मात्र शुभभाव से देव हो... परन्तु पश्चात्... ? आत्मा ज्ञान बिना उस देव के शरीर को ही अपना मानकर राग को भोगता है। परन्तु अपने भगवान स्वरूप को नहीं भोगता, 'मैं भगवान' ऐसी स्वरूप की बात भी सुनेगा नहीं और पुण्य की रुचि अन्दर से हटेगी नहीं, इसलिए देव शरीर को अपना मानकर जायेगा तिर्यंच में! और चार गति में भटकेगा।

मद्य, माँस, मदिरा तथा जिसमें बहुत त्रस जीव हों, ऐसे फल इत्यादि खानेवाले अज्ञानी महाअशुभपरिणामों से नरक में जाते हैं अर्थात् कि वर्तमानमात्र नरकदेह मिलता है, वह आत्मा के ज्ञान बिना ही मिलता है। संसार की चारों गतियाँ वह अज्ञान के ही कारण से मिलती है, आत्मा के भानवाले को संसारी की कोई गति ही नहीं है, उसे तो अपने स्वरूप का ही स्वामित्व है और अज्ञानी, जैसा अपना स्वभाव है, वैसा न जानकार

गति को अपना स्वरूप मानता है और जड़ शरीर के आकार को अपना आकार मानता है। शरीर तो जड़ का आकार है, आत्मा चैतन्यस्वरूप है, उसके भान बिना शरीर को अपना मानकर राग को भोगता है, क्योंकि रागरहित स्वरूप की तो स्वयं को खबर नहीं। व्यंजनपर्याय में यहाँ शरीर की आकृति भी ली है, क्योंकि अज्ञानभाव में रहा हुआ जीव शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है। अपने शुद्धस्वरूप का अजान उस विभाव व्यंजनपर्याय को अपना स्वरूप मानता है।

अब टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि :—

(मालिनी)

अपि च बहुविभावे सत्ययं शुद्धदृष्टिः,
सहजपरमतत्त्वाभ्यासनिष्णातबुद्धिः।
सपदि समयसारान्नान्यदस्तीति मत्त्वा,
स भवति परमश्रीकामिनीकामरूपः ।।२७।।

जीव में विभाव होने पर भी अर्थात् क्षणिक अवस्था में रागादि होने पर भी कोई सम्यग्दृष्टि जीव अपनी बुद्धि तत्त्वार्थदृष्टि में जोड़कर 'समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ मैं नहीं' ऐसा अनुभव करता है; भले शरीर हो परन्तु आत्मा तो त्रिकाल शुद्ध, उसके गुण त्रिकाल शुद्ध और गुणों की अवस्था भी त्रिकाल एकरूप शुद्ध पड़ी है। इस कर्म के निमित्त की हीन या पूरी अवस्था एक क्षणमात्र की है, ऐसा जिसे भान है, उसे तत्त्वदृष्टि कहा है। वस्तु, वस्तु के गुण और गुणों के आकार होती वह-वह मात्र अवस्था, वह त्रिकाल शुद्ध है, ऐसी तत्त्वदृष्टि में जमकर-एकाग्र होकर वह ऐसा मानता है कि शुद्ध आत्मस्वरूप के अतिरिक्त जगत में दूसरा कुछ कल्याणकारी नहीं है। जैसे आत्मा का कल्याण पर में नहीं, वैसे आत्मा का संसार भी पर में नहीं; एक समयमात्र का अपना माना हुआ उल्टा भाव, वही संसार है। स्त्री, पुत्र में इस आत्मा का संसार नहीं है, परन्तु स्त्री, पुत्र मेरे, स्त्री-पुत्र के बिना नहीं चलता, ऐसी उल्टी मान्यता ही संसार है।

'गुण तो आत्मा में है, बाहर में नहीं; धर्म आत्मा में है तो धर्म की विपरीततारूप संसार भी आत्मा में ही है। शरीर या विकार भले पड़े हों, मैं चैतन्यज्योति तो एक समय

में सब प्रकार से परिपूर्ण हूँ।' ऐसी बुद्धि से धर्मदृष्टिवन्त, जैसे दूध घट्ट होकर दहीरूप जम जाता है, फिर हिलता नहीं; उसी प्रकार अपने स्वभाव में जम जाता है; वह शुद्ध आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होकर ऐसा मानता है कि इस शुद्ध आत्मा के स्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा कल्याण करनेवाला नहीं है, अन्दर सम्यग्दर्शन इत्यादि निर्मल अवस्था, वह भी पूर्ण मैं नहीं, वह अवस्था क्षणिक है और मैं त्रिकाली हूँ, जहाँ ऐसा माना, वहाँ धर्मी जीव को दु:ख कहाँ रहा? आकुलता किसकी रही? ऐसे आत्मा के त्रिकाली स्वभाव का जो अभ्यास करे, वह जगत की धूल का स्वामी छूटकर आत्मा की मोक्षरूपी सुन्दर लक्ष्मी का शीघ्र स्वामी होता है।

यह दशा आत्मा से प्रगट हो सके, ऐसी है, इसलिए आत्मा को कहते हैं कि 'तू इस प्रकार शुद्ध आत्मा का अभ्यास कर तो मुक्तिरूपी लक्ष्मी का स्वामी हो!' यह कहीं लकड़ी को नहीं कहते। शरीर, मन, वाणी से और विकारभाव से उदास बुद्धि करके अपने शुद्ध पवित्र आनन्दघन स्वभाव में रमने की भावना करने का कहा है। आहाहा! इन १० से १५ गाथाओं में तो जैनदर्शन का सूक्ष्म, गहरा, वीतराग के अभिप्राय का रहस्य आचार्यदेव ने रख दिया है।

गाथा-१६-१७

अब आत्मा द्रव्य, गुण और पर्याय से भी त्रिकाल शुद्ध कहा, परन्तु इससे वर्तमान क्षणिक अवस्था में विकार है, उसका कोई नकार करे तो उसके ज्ञान में भूल है—यह बताने के लिये चार गति का विशेष स्वरूप दो गाथाओं द्वारा कहते हैं।

माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्त-विहा णेरइया णादव्वा पुढवि-भेदेण।।१६।।
चउदह भेदा भणिदा तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं लोय-विभागेसु णादव्वं।।१७।।

मानुषा द्वि-विकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसञ्जाताः।
सप्त-विधा नारका ज्ञातव्याः पृथ्वी-भेदेन।।१६।।
चतुर्दशभेदा भणितास्तिर्यञ्चः सुरगणाश्चतुर्भेदाः।
एतेषां विस्तारो लोक-विभागेषु ज्ञातव्यः।।१७।।

अपने ज्ञानस्वरूप को भूलकर जीव की जो मनुष्य आकृति और मनुष्यदेह, यह सामान्य मनुष्य कहे, अब इनके दो प्रकार कहते हैं; १—कर्मभूमि से जन्मे हुए और (२) भोगभूमि से जन्मे हुए। जहाँ असि, मसि और कृषि कार्य चले, इसलिए दानादि कार्य जहाँ हों, ऐसे स्थान में जन्मे हुए मनुष्य, वे कर्मभूमि के मनुष्य कहलाते हैं, तथा भोगभूमि अर्थात् जहाँ दानादि शुभकर्म का फल भोगने का स्थान है और कल्पवृक्षों से कार्य चलता है ऐसे स्थान में जन्मे हुए मनुष्य को भोगभूमि के मनुष्य कहा जाता है। तिर्यंच के पृथ्वी इत्यादि चौदह भेद हैं। देव के चार भेद हैं और नारकी के सात भेद हैं।

ऋषभदेव भगवान हुए, तब पहले अठारह कोड़ाकोड़ी* सागरोपम तक भरतक्षेत्र में (यहाँ) युगलिया ही थे और भोगभूमि ही थी। पश्चात् एक कुलकर अवधिज्ञानी हुए और तलवार से, लिखने से और खेती से कार्य जब से शुरु हुआ, तब से कर्मभूमि की भरतक्षेत्र में शुरुआत हुई। इस प्रकार भोगभूमि का अन्त और कर्मभूमि की शुरुआत में चौदह कुलकर हुए तथा श्री ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती ये दो बाद में हुए, यह मिलकर कुल सोलह कुलकर हुए। (कुलकर अर्थात् उस समय का मुख्य मनुष्य।) उन्होंने लोगों को आजीविका का साधन तथा दूसरी आवश्यकतावाली क्रियायें बतायीं। तब पहले सब कल्पवृक्ष से आजीविका इत्यादि चलाते थे। इसलिए उन्हें कुछ करना नहीं पड़ता था।

यहाँ कोई कहे कि यह तो बहुत मजा! जो चाहिए वह मेहनत बिना मुफ्त मिले, तो उसे कहते हैं कि उसमें मजा नहीं। मुफ्त में मिले उसके लिये मजा, यह बात खोटी है। जहाँ पर की गुलामी पड़ी है, वहाँ ही रंकाई होकर-पराधीनता आयी। आहार, वस्त्र

* असंख्य अरब वर्ष का एक पल्योपम होता है, ऐसे दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है। और ऐसे एक करोड़ सागरोपम को एक करोड़ से गुणा किया जाये, उसे एक क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम कहा जाता है। (१०००००००,०००००० एक के ऊपर चौदह शून्य-यह क्रोड़ाक्रोड़ी कहलाता है।)

इत्यादि की आवश्यकता मानी, वहाँ आत्मा के गुण में भिखारीपना भी माना है, इसलिए उसमें मजा नहीं, परन्तु आत्मा का स्वभाव कि जिसमें पर की आवश्यकता ही न पड़े, उसके श्रद्धा, ज्ञान स्थिरता में स्वरूपानन्द का मजा है।

सोलह बड़े पुरुष हुए, वे कुलकर कहलाते हैं, वे पिता समान हैं। उन्हें (मनु) भी कहा जाता है। उनके द्वारा लालित-पालित हुए, इस अपेक्षा से मनु के पुत्र होने से सर्व मनुष्य कहलाये; इस प्रकार मनुष्य के कर्मभूमि में जन्मे हुए और भोगभूमि में जन्मे हुए, ऐसे दो प्रकार कहे।

अब कर्मभूमि के भी दो प्रकार हैं:—आर्य और म्लेच्छ। पुण्यक्षेत्र निवासी अर्थात् कि पूर्व में पुण्य करके अवतरित हुए, वे आर्यक्षेत्र निवासी हैं और पापक्षेत्र निवासी, वे म्लेच्छ हैं। भोगभूमि में सब जुगलिया आर्यक्षेत्र निवासी हैं। इस प्रकार मनुष्यरूप विभावव्यंजनपर्याय के विशेष भेद बतलाये।

नरकगति के सात प्रकार हैं। रत्न, शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातम—ऐसी प्रभा की धारण करनेवाली सात पृथ्वियाँ हैं, उसे नरक कहा जाता है। उसमें पहली रत्नप्रभा नरक है, वहाँ के जीव का उत्कृष्ट आयुष्य एक सागरोपम है और तत्पश्चात् अनुक्रम से तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट आयुष्य है। और न्यूनतम आयुष्य पहली नरक के नारकी का दस हजार वर्ष है, तत्पश्चात् अनुक्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्रह और अन्तिम का बाईस सागरोपम है।

तिर्यंच के चौदह भेद हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय—इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो-दो प्रकार, इस प्रकार तिर्यंच के चौदह भेद हैं। हरितकाय, पतंगिया आदि तिर्यंच हैं, पृथ्वीकाय आदि जीव भी तिर्यंच हैं।

देवपर्याय के चार भेद हैं:—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी, ये चारों देवों के भेद हैं। इस प्रकार मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देव, यह चार गति का वर्णन किया, यहाँ विस्तार न करके संक्षेप से कहा है, क्योंकि इस शास्त्र में आत्मस्वरूप का कथन है, इसलिए इसमें गति इत्यादि का वर्णन विशेष नहीं है।

अब टीकाकार मुनिराज जिनदेव को प्रार्थना करते हैं:—

(मंदाक्रांता)

स्वर्गे वास्मिन्मनुज-भुवने खेचरेन्द्रस्य दैवा-
ज्योतिर्लोके फणपतिपुरे नारकाणां निवासे।
अन्यस्मिन् वा जिनपतिभवने कर्मणां नोऽस्तु सूतिः,
भूयो भूयो भवतु भवतः पाद-पङ्केज-भक्तिः ।।२८।।

हे जिनदेव वीतराग परमात्मा! मैं देवलोक में होऊँ, मनुष्यलोक में होऊँ, नरक में होऊँ, या जिनेन्द्र भवन में होऊँ—चाहे जहाँ होऊँ परन्तु मुझे कर्म की उत्पत्ति न हो अर्थात् भव न हो। यहाँ आचार्यदेव ने 'चाहे जहाँ होऊँ' ऐसा कहकर कहीं संसार में रहने की भावना नहीं की है, परन्तु अप्रतिहत पुरुषार्थ की ऐसी भावना की है कि एक भी गति का भव न रहे। 'कर्म न होओ' ऐसी नास्ति से कथन किया। अब अस्ति से कहते हैं। हे वीतराग परमात्मा! भव-भव में आपके चरण-कमल की भक्ति ही प्राप्त होओ! अर्थात् कि मेरे शुद्धस्वरूप में वीतरागरूप से स्थिर न रह सकूँ, तब तक आपकी भक्ति का उत्कृष्ट शुभभाव आवे, उसमें बीच में अशुभभाव न ही आओ! बीच में अशुभ नहीं आवे अर्थात् शुभ भी अल्प काल में टलकर शुद्ध ही हो जानेवाले हैं! क्योंकि अकेला शुभभाव लम्बे काल तक नहीं टिक सकता, ऐसा नियम है।

'भव-भव में वीतराग की भक्ति होओ' ऐसा कहकर आचार्यदेव ने वीतरागपना ही चाहा है। वीतराग दृष्टिवन्त ही वीतराग प्रभु के चरणकमल की भक्ति चाहता है और उसकी ही प्रार्थना सच्ची है। भव-भव में वीतराग की भक्ति अर्थात् वास्तव में तो आत्मा के वीतरागस्वभाव का प्रेम कायम टिका रहो। अज्ञानी को तो शुभभाव भी अकेला नहीं हो सकता; अकेला शुभभाव तो जहाँ आत्मा के शुद्धस्वरूप का भान हो (परन्तु अभी वीतरागदशा प्रगट न हुई हो) वहाँ ही रहता है और वह शुभभाव भी हेयबुद्धि से होने से अल्प काल में टालकर शुद्ध वीतराग हो जाता है। आचार्यदेव को शुभ विकल्प उठा है, 'वह शुभराग का निमित्त वीतराग का ही आवे—दूसरा नहीं, ऐसा कहा, अर्थात् वीतराग के निमित्त की ओर का लक्ष्य अल्प काल में छूटकर शुद्धभाव प्रगट होगा; वीतरागस्वभाव के प्रति का राग रहो, बीच में दूसरा कोई राग न आओ-

अर्थात् वीतराग के प्रति राग और विकल्प टालकर अल्प काल में निर्विकल्पदशा प्राप्त करके वीतराग होऊँ—ऐसी आचार्यदेव ने पूर्णता की भावना की है, परन्तु शुभराग की भावना नहीं की।

अब टीकाकार मुनिराज जिन जीवों को पुण्य के फल की मिठास है, उन्हें सम्बोधकर कहते हैं —

(शार्दूलविक्रीडित)

नानानून-नराधिनाथ-विभवा-नाकर्ण्य चालोक्य च,
त्वं क्लिश्नासि मुधात्र किं जडमते पुण्यार्जितास्ते ननु।
तच्छक्तिर्जिन-नाथ-पाद-कमल-द्वन्द्वार्चनायामियं,
भक्तिस्ते यदि विद्यते बहुविधा भोगाः स्युरेते त्वयि।।२९।।

हे जीव! राजा, महाराजा या देव इत्यादि पद की विभूति देखकर या सुनकर तुझे विस्मय क्यों होता है? उसकी महिमा तुझे क्यों आती है? वह तो सब शुभराग के फल हैं। आत्मभान के पश्चात् भगवान की ओर का शुभराग आवे, उसमें इन्द्र इत्यादि पद पड़े ही हैं, तो तुझे उस पुण्य के फल की महिमा क्यों आती है? हे जड़बुद्धि! यदि तेरी बुद्धि जिनेन्द्रदेव की भक्ति में है तो उस शुभभाव में अपने आप इन्द्र इत्यादि पद आ जायेंगे, इसलिए इन्द्रपद इत्यादि का आदर छोड़! जिनेन्द्र भगवान का विकल्प छोड़कर इन्द्रादि पद का विकल्प भी तुझे क्यों आता है?

यहाँ आचार्यदेव ने भगवान की भक्ति ही माँगी है अर्थात् अशुभ आवे, उसका नकार ही किया है; और दृष्टि तो शुद्ध स्वभाव पर ही है; इसलिए दृष्टि की निर्मलता बढ़ते-बढ़ते बीच में विकल्प उठे, उसमें ऐसे उत्कृष्ट पुण्य बँध जायेंगे कि बाहर में इन्द्रादि पद का संयोग सहज आयेगा, परन्तु उस इन्द्रपद का या शुभ विकल्प का भी उन्हें आदर नहीं है। जिस जीव को पुण्य का और उसके फल का आदर है, उसे आचार्यदेव ने 'जड़मति' कहा है।

'हे जड़मति'! ऐसा कहकर आचार्यदेव ने आत्मा की निर्मल दृष्टि में भगवान के अतिरिक्त दूसरा विकल्प आवे, उसका तिरस्कार किया है। स्वयं है तो ज्ञानी, परन्तु

स्थिरता की ओर इतना जोर है कि अशुभ विकल्प के अनादर की उत्कृष्ट भावना में 'हे जड़मति' ऐसा सम्बोधन कहा है। जो तुझे दूर लगता है, ऐसे इन्द्रादि पद शुद्ध के लक्ष्य से बीच में शुभभाव में सहज आ जाते हैं, इसलिए पुण्य की भावना छोड़ और स्वरूप की भावना कर—ऐसा कहने का आशय है।

गाथा-१८

अब आत्मा कर्ता-भोक्ता इस प्रकार है यह कहते हैं :—

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मज-भावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।१८।।

कर्ता भोक्ता आत्मा पुद्गलकर्मणो भवति व्यवहारात्।
कर्मज-भावेनात्मा कर्ता भोक्ता तु निश्चयतः।।१८।।

व्यवहारनय से यह आत्मा आठ कर्म का कर्ता-भोक्ता है। वर्तमान क्षणमात्र जीव के रागादिभावों का निमित्त पाकर आठ प्रकार के कर्म बँधते हैं, ऐसा ज्ञानी जानते हैं, इसलिए वे कहते हैं कि व्यवहारदृष्टिवाला अर्थात् कि जिसे परलक्ष्य है, ऐसा जीव व्यवहार से कर्म का भोक्ता है। पुद्गल परमाणुओं की अवस्था तो उसके स्वतन्त्र कारण से होती है। वास्तव में जीव उसकी अवस्था का कर्ता नहीं, तथापि 'व्यवहारनय से जीव कर्म का कर्ता है' ऐसा ज्ञानी के ज्ञान में नय पड़ते हैं। जिस जीव को परलक्ष्य है, उसे व्यवहार का कर्तापना लागू पड़ा, वहाँ उस जीव की रागादिभावरूप अवस्था को तथा उसके निमित्त से जो कर्म बँधे, उन्हें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसे ज्ञानी जानता है और इसलिए ज्ञानी के ज्ञान करने की अपेक्षा से 'व्यवहारनय से जीव कर्म का कर्ता-भोक्ता है।' यह ज्ञानी का नय है। अज्ञानी को तो नय की सच्ची खबर ही नहीं है।

कर्म के निमित्त में जुड़ने से होनेवाले रागादि विकारी भाव का कर्ता-भोक्ता अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा है। रागादि भाव, वह अशुद्ध अवस्था होने से यहाँ अशुद्ध

निश्चयनय से उसका कर्ता जीव है, ऐसा कहा है। रागादि, वह आत्मा की पर्याय है, परन्तु वह अशुद्ध है; इसलिए उसे अशुद्ध निश्चय से जीव के कहा है। 'रागादिभाव, वह आत्मा का स्वरूप नहीं, परन्तु अज्ञानी उसे अपना स्वरूप मानता है', ऐसा ज्ञानी अपने ज्ञान में जानता है, इसलिए जीव पुण्य-पाप के भाव का कर्ता और हर्ष-शोक का भोक्ता अशुद्धनिश्चयनय से है। अज्ञानी को स्वरूप का भान नहीं, इसलिए वह तो रागादि का कर्ता-भोक्तापना, उसे ही वास्तविक स्वरूप मान बैठा है, उसे नय का ज्ञान नहीं है।

निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से जीव ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का कर्ता और उसके फल का भोक्ता है। आत्मा को मकान इत्यादि दूर रही हुई वस्तु का कर्ता कहना, वह उपचरितव्यवहार है और निकट रहे हुए कर्मों का कर्ता कहना, वह अनुपचरित व्यवहार है। सामने पुद्गलों की अवस्था घर इत्यादिरूप होती है और वहाँ आत्मा के रागादि विकल्प भाव का निमित्त है—इन दोनों का ज्ञान करके अपने ज्ञान में नय-अपेक्षा ज्ञानी समझता है। जब मकान इत्यादि होता हो, तब वहाँ विकारी भाववाला ही जीव निमित्तरूप से होता है, कहीं सिद्धभगवान निमित्त से वहाँ नहीं होते! परमाणुओं में भी मकान होने की योग्यता और वहाँ उपस्थित रहे हुए जीव का मकान की ओर का विकल्प—इन दोनों के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के ज्ञान का जो पहलू, उसे 'असद्भूत उपचरितव्यवहारनय' कहा जाता है और उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से जीव मकान इत्यादि का कर्ता है।

परवस्तु के साथ जीव को कर्ता-भोक्ता सम्बन्ध कहना, वह उपचार ही है और उस उपचार सम्बन्ध का ज्ञान, वह नय है। वह नय किसके ज्ञान में पड़ता है? जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं, दोनों की पर्याय भिन्न ही है, कोई एक-दूसरे के कर्ता नहीं—ऐसा वास्तविक निश्चयस्वरूप जाने, पश्चात् जीव के वर्तमान विकारभाव और पुद्गल की अवस्था को जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और उसके कारण एक-दूसरे के कर्तापने का उपचार है, उसका जो ज्ञान करता है, उसके ज्ञान में नय पड़ते हैं; वहाँ जो स्वरूप का ज्ञान, वह निश्चयनय है और परसम्बन्धी का ज्ञान, वह व्यवहारनय है।

परन्तु जिसे दो द्रव्य की भिन्नता की खबर नहीं और जीव पर का वास्तव में कर सकता है, ऐसा मानता है, उसे तो निश्चय (वास्तविक) स्वरूप की खबर नहीं। और निश्चय स्वरूप के भान बिना व्यवहार सम्बन्ध का ज्ञान भी सच्चा नहीं होता और सच्चा ज्ञान न हो, वहाँ नय भी नहीं होते, इसलिए अज्ञानी को सच्चे नय नहीं होते।

ज्ञान को आवरण करनेवाले ज्ञानावरणीय कर्म का फल जड़कर्म में आया है। असद्भूतअनुपचरितव्यवहारनय से आत्मा कर्म के फल का भोक्ता है। वास्तव में- निश्चय से तो आत्मा जड़कर्म के फल का भोक्ता नहीं, परन्तु जब जड़ में ज्ञानावरणीय कर्म का फल आया, तब जीव के पुरुषार्थ की निर्बलता के कारण, उस फल में जुड़ान हुआ (अर्थात् परलक्ष्य किया), इसलिए जीव का ज्ञान हीन पड़ा; इस प्रकार ज्ञानावरण कर्म का उदय और जीव की विकारी पर्याय, इन दोनों के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को जानकर ज्ञानी कहते हैं कि—असद्भूतअनुपचरितव्यवहारनय से जीव कर्म के फल का भोक्ता है।

यह ध्यान रखना कि अनुपचरितव्यवहारनय भी निश्चय की अपेक्षा से तो उपचार ही है। वह उपचार भी किस जीव को लागू पड़ता है? सिद्ध भगवान को वह उपचार लागू नहीं पड़ सकता, क्योंकि उन्हें तो कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का अभाव ही है। अज्ञानी तो, कर्म ने ज्ञान रोका और जीव ने कर्म बाँधे—ऐसा ही वास्तव में मान लेता है, अर्थात् उपचार को ही वास्तविक स्वरूप मान लेता है, इसलिए अज्ञानी को उपचार का भान भी नहीं। छद्मस्थ ज्ञानी को निश्चयस्वरूप का भान है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र भिन्न है, एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध परमार्थ से नहीं है, परन्तु छद्मस्थदशा में रहे हुए रागी जीव को परलक्ष्य से राग और विकल्प उठता है। और उसके निमित्त से परमाणु में कर्म इत्यादि अवस्था होती है—इतने निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान करके ज्ञानी जीव उपचार करता है कि असद्भूतव्यवहार से जीव कर्म का कर्ता है; जिस जीव ने परलक्ष्य किया, उसे कर्म के कर्तापने का उपचार लागू पड़ा। निश्चयदृष्टि में अर्थात् कि परमार्थ-निश्चयनय से तो कर्म ही बँधता नहीं, कर्म बँधता है, यह व्यवहार है। प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र है, उस परमाणु की अवस्था परमाणु में और आत्मा की अवस्था आत्मा में। जड़ की अवस्था आत्मा नहीं कर सकता

और आत्मा की अवस्था जड़ नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य में 'द्रव्यत्व' नाम की त्रिकाली शक्ति है, उस द्रव्यत्वगुण की शक्ति से प्रत्येक द्रव्य की अवस्था स्वतन्त्ररूप से होती है, इसलिए परमार्थदृष्टि में तो एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध ही नहीं है। जीव कर्म बाँधता नहीं, कर्म जीव को रागादि कराते नहीं, यह परमार्थ सत्य है। इस प्रकार जानने के पश्चात्, दो द्रव्य की अवस्था को परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तथा उसके कारण कर्ताकर्म का उपचार आता है, उसे जानना, वह व्यवहारनय है।

★★★★★

व्याख्यान के बाद चर्चा में से

यहाँ पूरे द्रव्य की समुच्चय पर्याय की बात है। पहले उपयोगरूप पर्याय की बात थी, वह गुण की पर्याय की बात थी।

इस ध्रुव पर्याय (कारणशुद्धपर्याय) का यदि प्रगटरूप परिणमन हो तो सभी आत्मा अनादि एक सरीखे शुद्ध ही हो जाये, और ऐसा होने से पुण्य-पाप या संसार-मोक्ष कुछ रहे ही नहीं। ध्रुवपर्याय वर्तमानरूप है, परन्तु उसका प्रगट परिणमन नहीं, क्योंकि यदि वह प्रगट परिणमनरूप हो तो बन्ध-मोक्ष का अभाव सिद्ध हो।

अभी चलता है, वह (गाथा १५ में) द्रव्य के पर्याय की बात है और पहले (गाथा १४ में) थी, वह गुण की पर्याय की बात थी।

व्याख्यान नं. २०, दिनांक १०-५-१९४४, बुधवार

गाथा १८ चालू।

अठारहवीं गाथा शुरु हुई है, इस गाथा में आत्मा कर्ता-भोक्ता किस प्रकार है, उसका वर्णन है। इस आत्मा को किसी ईश्वर ने बनाया, यह बात मिथ्या है। आत्मा स्वयंसिद्ध वस्तु है, वह अनादि-अनन्त है; जो वस्तु होती है, उसका कर्ता नहीं होता, क्योंकि यदि कोई कर्ता कहो तो, वह वस्तु पहले नहीं थी और फिर कर्ता ने बनायी, ऐसा सिद्ध हो और ऐसा होने से वस्तु का त्रिकालीपना नहीं रहा। जो त्रिकाल न हो, उसे वस्तु नहीं कहा जाता। आत्मा वस्तु है; है, उसे कोई बनावे नहीं और जो वस्तु हो, उसका कभी नाश नहीं होता। आत्मा वस्तु है, ऐसा कहने पर, वह त्रिकाली है, ऐसा आ ही जाता है। यह आत्मा है, यह पूर्व में भी था ही, उसे किसी ने बनाया नहीं। आत्मा अपने भान बिना अनादि से दुःख पाया है, किसी ईश्वर ने उसे भटकाया नहीं, परन्तु आत्मा स्वयं ही अज्ञान के कारण राग-द्वेष करके दुःखी होता है। अपने भाव का कर्ता स्वयं ही है; इसलिए स्वयं ही ईश्वर (कर्ता) है। तेरे भाव का कर्ता तू ही और भोक्ता भी तू ही है। पुण्य-पापभाव की शिक्षा देने वाला कोई दूसरा नहीं है, परन्तु जब आत्मा ने स्वयं को भूलकर रागादि किये, तब आत्मा के गुण की हीनता हुई—वह उसकी शिक्षा है। पाप का फल नरक, वह तो संयोग की बात हुई। वास्तव में आत्मा को संयोग का वेदन नहीं, परन्तु स्वयं अज्ञानभाव से जो रागादि करता है, उसका वेदन उसी समय होता है और उसका ही दुःख है। जब तक आत्मा के भानपूर्वक वे रागादि टाले नहीं, तब तक वह जीव आत्मशान्ति को घातकर विकारी भावों की आकुलता को भोगा ही करता है। स्वर्ग-नरक तो बाह्य संयोग है, उन संयोग में अज्ञानी अनुकूल-प्रतिकूलता की मान्यता करता है और उस मान्यता को ही भोगता है। आत्मा तो स्वभाव से शान्तमूर्ति है, उसे क्षेत्र या संयोग का वेदन नहीं है, परन्तु अपने रागादिभाव का वेदन है।

आत्मा कर्ता-भोक्ता किस प्रकार है, यह बात चलती है। यह अरिहन्त या केवली भगवान की बात नहीं है, परन्तु संसार में भटकते जीव, पर के कर्ता-भोक्ता नहीं, परन्तु अपने भाव के कर्ता-भोक्ता है, यह बात पहले बताते हैं। पहले अशुद्ध आत्मा की बात

ली है। केवली को दु:ख नहीं होता, यह तो अनादि के अज्ञानी आत्मा को समझाने की बात है। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं, इसलिए स्वभाव को अनुसरकर जो वेदन आत्मा को होना चाहिए, उसके बदले रागादि विभावभावों का वेदन वह कर रहा है, सुख-दु:ख का कर्ता कोई ईश्वर नहीं है। यदि दु:ख से ईश्वर बचावे, ऐसा माना जाये तो अभी तक दु:ख में भटकाया भी उसने ही, इसलिए ईश्वर ने ही अभी तक दु:खी किया है—ऐसा कहकर ईश्वर को गाली देने जैसा है। परन्तु ईश्वर किसी को सुख-दु:ख नहीं देता, क्योंकि ईश्वर तो रागरहित-वीतराग है। जो रागादि बुरे भाव करता है, वह भाव टालकर स्वयं ही सच्ची समझ के भले भाव कर सकता है। दूसरा कोई कराता नहीं। सच्ची समझ का अभाव, वही दु:ख है। पूर्व कर्म के कारण शरीर में रोग आवे या दूसरी प्रतिकूलता आवे, उसका दु:ख नहीं है।

जीव कर्ता-भोक्ता किस प्रकार है, उसका स्वरूप नयविभाग द्वारा नीचे के छह पहलुओं से आचार्यदेव गाथा १३ से १८ तक में समझाते हैं।

१— निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म का कर्ता-भोक्ता है।

२— अशुद्ध निश्चयनय से रागादिभाव का कर्ता-भोक्ता है।

३— अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से शरीर का कर्ता-भोक्ता है।

४— उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से दूर क्षेत्रवर्ती मकान, वस्त्र इत्यादि का कर्ता-भोक्ता है।

५— शुद्ध निश्चयनय से अपने शुद्धस्वभाव का कर्ता -भोक्ता है।

६— शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय से केवलज्ञानादि शुद्धदशा का कर्ता-भोक्ता है।

नय अर्थात् श्रुतज्ञान का पक्ष। वस्तु के अभेदस्वरूप को जो ज्ञान जाने, वह निश्चयनय है और वस्तु के उपचार सम्बन्ध को जो ज्ञान जाने, वह व्यवहारनय है। अनुपचार और उपचार इन दोनों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान सम्यक्ज्ञानी को होता है, इसलिए 'नय' वे सम्यग्ज्ञानी के ज्ञान का प्रकार है। अज्ञानी के ज्ञान में नय नहीं होते, परन्तु नयाभास होता है।

अब, जीव के कर्ता-भोक्ता सम्बन्धी ऊपर के जो छह प्रकार कहे, उनका विस्तार से स्पष्टीकरण अनुक्रम से करते हैं।

१— निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता-भोक्ता है। जैसे शुभ या अशुभभाव जीव करे, वैसे ही जड़कर्म बँधते हैं, वे जड़कर्म आत्मा के नजदीक—एक क्षेत्रसम्बन्ध में है, इसलिए 'निकटवर्ती अनुपचरित', आत्मा ने वे कर्म किये नहीं, इसलिए 'असद्भूत' और जड़कर्म का कर्तापना, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, परन्तु आत्मा निमित्तरूप है, इसलिए निमित्त में कर्तापन का उपचार किया है, इसलिए 'व्यवहार' और उस उपचार को ज्ञानी जानता है, इसलिए 'नय'—इस प्रकार 'निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय' से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता है। इसमें राग का और कर्म का दोनों का ज्ञान आ जाता है। 'कर्म नहीं, ऐसा कोई कहे तो वह बात मिथ्या है, क्योंकि यदि कर्म हो ही नहीं तो अपने स्वभाव से आत्मा में रागादि अशुद्धता नहीं होती, इसलिए निर्मलता ही होना चाहिए। परन्तु वर्तमान रागादि तो होते हैं, इसलिए उसमें निमित्तरूप जड़कर्म भी है और जीव में रागादि भी है, क्योंकि यदि राग न हो तो परलक्ष्य न हो; इस प्रकार राग और जड़कर्म दोनों हैं, परन्तु आत्मा को जड़कर्म का कर्ता कहना, वह उपचार अर्थात् व्यवहार है।

आत्मा है, वह सर्व परवस्तु से भिन्न है, परवस्तुएँ हैं अवश्य, परन्तु वे आत्मा से भिन्न हैं। आत्मा अनन्त गुण के पिण्डरूप पर से त्रिकाल भिन्न है। जो है, वह स्वयं से परिपूर्ण ही होता है तो ही वह टिक सकता है। जीव त्रिकाली वस्तु है, वह क्या करे, इसका वर्णन चलता है।

विकारी भाववाला जीव नजदीक रहे हुए जड़कर्मों का कर्ता उपचार से है। छद्मस्थ जीव को अभी राग है, वह कहीं सिद्धसमान नहीं हो गया है; उसे राग है, इसलिए कर्म भी बँधते हैं, क्योंकि राग को और कर्म को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ऐसा होने से असद्भूतव्यवहार से जीव को कर्म का कर्ता, ऐसा उपचार किया जाता है, परन्तु 'असद्भूत' कहने से आत्मा में कर्म का कर्तापना वास्तव में नहीं है—ऐसा समझाया है। अज्ञानी जीव आत्मस्वभाव को नहीं जानता, इसलिए उसकी दृष्टि अकेले परद्रव्य पर होती है। यदि स्वयं अपने में परिणमता है अर्थात् स्वयं अपनी अवस्था को

ही कर्ता है, ऐसा भान हो तो अपने स्वभाव को देखे, परन्तु स्वभाव की खबर नहीं, इसलिए 'मैं इन रागादिरूप ही होनेवाला हूँ और यह कर्म मुझसे बँधते हैं।' ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिए उसके ज्ञान में तो नय रहा ही नहीं। क्योंकि उसे तो उपचार का सच्चा ज्ञान ही नहीं है। जबकि ज्ञानी तो जानता है कि कर्म बँधते हैं, वहाँ जीव के रागादिभाव का निमित्त है, इसलिए जीव में कर्म के कर्तापने का उपचार आता है, परन्तु परमार्थ से जीव उसका कर्ता नहीं है; इस प्रकार ज्ञानी उपचार का बराबर ज्ञान करता है, वही व्यवहारनय है।

और निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा कर्म के फल को भोगता है। पैसा, मकान, आहार इत्यादि कर्म का फल है, उसे वास्तव में आत्मा भोग नहीं सकता। खाने-पीने की इच्छा हो, तथापि पक्षघात इत्यादि हो जाये तो वह कुछ नहीं हो सकता तथा जब खाने-पीने की क्रिया होती हो, तब भी वास्तव में तो आत्मा उसे कर नहीं सकता; परन्तु जिस जीव का पर के ऊपर लक्ष्य गया और उसे भोगने की वृत्ति उठी, उस जीव को उपचार से भोक्तापना लागू पड़ता है। वहाँ जो उपचार को ही मूल स्वरूप मान ले, वह तो अज्ञानी है। ज्ञानी उपचार का ज्ञान कर ले कि—जीव को जो वृत्ति उठी, उसे और परद्रव्य को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिए वह विकल्पवाला जीव निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से कर्म के फल का भोगता है।

निकटवर्ती अनुपचरित=नजदीक के सम्बन्ध में रहा हुआ,

असद्भूत=स्वरूप में नहीं।

व्यवहार=पराश्रयदृष्टि से विचार।

नय=सम्यग्ज्ञान का पक्ष।

जड़कर्म वास्तव में आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाते, परन्तु जीव का उस ओर का लक्ष्य है, इसलिए 'असद्भूत व्यवहार से वह कर्म का भोक्ता है तथा वह कर्म नजदीक के सम्बन्ध में रहे हुए होने से उस व्यवहार को 'निकटवर्ती अनुपचरित' कहा है। परवस्तु आत्मा के स्वरूप में नहीं और आत्मा उसका भोक्ता नहीं, परन्तु जीव को कर्म का संयोग है और उसके लक्ष्य से विकल्प वर्तता है, उसका ज्ञान करके 'निकटवर्ती

अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से जीव कर्म का भोक्ता है'—ऐसा कहा।

उष्ण वस्तु को आत्मा भोग नहीं सकता, उष्णता तो जड़ की पर्याय है, उसका संयोग वर्तता है, वहाँ व्यवहार से 'मैं उसे भोगूँ' ऐसा विकल्प जिसे उठता है, ऐसा जीव जब तक निमित्त पर लक्ष्य है, तब तक असद्भूतव्यवहार से भोक्ता है-ऐसा निमित्त में उपचार किया। जिसे संयोग के ऊपर लक्ष्य होता है, उसे उपचार लागू पड़ता है, परन्तु जो जीव असंयोगी आत्मस्वभाव की दृष्टि में स्थित है, और जिसे परलक्ष्य नहीं, उसे तो पर का भोक्ता उपचार से भी नहीं कहा जा सकता। उपचार क्षणिक पर्याय में होता है। त्रिकाली द्रव्य-गुण में पर के भोक्तापने का उपचार नहीं होता। वर्तमान पर्याय में जिसे परलक्ष्य है, वह पर का भोक्ता क्षणिक उपचार से वर्तमान मात्र है। यदि पर के भोक्तापने का उपचार कायम हो तो वह निश्चय अर्थात् अनुपचार-असली स्वभाव हो जाये, इसलिए स्वभाव अपेक्षा से तो उपचारपना है ही नहीं। आत्मा का स्वभाव तो आनन्दस्वरूप का भोग करने का है, परन्तु स्वभाव का लक्ष्य चूककर परलक्ष्य करता है, उसे पर्याय में उपचार लागू पड़ता है, इसलिए वह वर्तमान व्यवहारदृष्टि से पर का भोक्ता है। 'व्यवहारदृष्टि से है' ऐसा कहने से 'सच्ची रीति से—परमार्थदृष्टि से आत्मा पर का भोक्ता कभी नहीं', ऐसा समझना।

२— अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा अपने रागादिभाव का कर्ता-भोक्ता है। रागादिभाव, वह आत्मा की वर्तमान मलिन अवस्था में होते हैं, जड़ में नहीं होते। वे रागादिभाव आत्मा में होते हैं, इसलिए 'निश्चय', और मलिनभाव हैं, इसलिए 'अशुद्ध', इस प्रकार अशुद्ध निश्चय से आत्मा रागादि का कर्ता है। जो वस्तु आत्मा से भिन्न ही हो, उसका कर्ता आत्मा को कहना, वह व्यवहार है, परन्तु आत्मा की अशुद्ध अवस्था का कर्ता आत्मा अशुद्ध निश्चय से है। यदि शुद्ध निश्चय से आत्मा रागादि का कर्ता-भोक्ता हो तो, शुद्ध निश्चय में तो कभी अन्तर पड़ता नहीं, इसलिए रागादि भाव कभी आत्मा से भिन्न पड़ें नहीं। दया, भक्ति या हिंसा इत्यादि का जो विकल्प उठता है, वह राग है, वह राग आत्मा की अवस्था में होता है—आत्मा स्वयं उस समयमात्र की राग अवस्थारूप हुआ है—स्वयं जो अवस्थारूप होता है, उसका वह कर्ता है। इस प्रकार आत्मा रागादि का कर्ता है, परन्तु रागादि, वह अशुद्धता होने से आत्मा उसका अशुद्ध निश्चय से कर्ता

है। शुद्ध निश्चय की अपेक्षा से रागादि का कर्ता भी व्यवहार से है परन्तु यहाँ परद्रव्य का कर्ता-भोक्ता, उसे व्यवहार लिया है और रागादि, वह आत्मा की पर्याय है; इसलिए उसका कर्ता-भोक्ता अशुद्धनिश्चय से है—ऐसा लिया है। गन्ने के ठण्डे रस के स्वाद का भोक्ता आत्मा नहीं है, रस का स्वाद, वह तो जड़ है और ठण्ड भी जड़ की दशा है। आत्मा में ठण्डकपना नहीं है, आत्मा तो अरूपी ज्ञानस्वरूप जाननेवाला है। गन्ने के रस को भी जानता ही है। जानने में 'यह स्वाद अच्छा' ऐसा राग करता है और हर्ष को भोगता है। उसी प्रकार गर्मी की गर्मी को भी आत्मा नहीं भोगता, गर्मी को जानता ही है। गर्मी को जानते हुए आत्मा गर्म नहीं हो जाता, परन्तु गर्मी के ऊपर जो अरुचि का भाव होता है, उस द्वेषभाव का आत्मा कर्ता है और शोक का भोक्ता है—यह अशुद्ध निश्चयनय से है। परमार्थ से रागादि का भोग, वह आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है।

३— अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से आत्मा शरीर का कर्ता-भोक्ता है। नारकी और स्वर्ग में वैक्रियकशरीर होता है और मनुष्य तथा तिर्यंच को औदारिकशरीर होता है। मैं शरीर को वास्तव में हिला-चला सकूँ, ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि है। 'शरीर की हिलने-चलनेरूप क्रिया का मैं निमित्त हूँ' ऐसी शरीर की क्रिया पर लक्ष्य जाना तथा शरीर की ओर के लक्ष्य से कुछ वृत्ति हो, उस विकल्प को और शरीर की क्रिया को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, इसलिए अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से जीव शरीर का कर्ता है, ऐसा उपचार किया जाता है। उपचार अर्थात् क्या? जीव शरीर का कुछ कर तो सकता ही नहीं, परन्तु जिसे उपचार लागू पड़ता है, वह जीव अभी सिद्ध हुआ नहीं। और उसे शरीर की ओर का विकल्प वर्तमान वर्तता है तथा उस समय शरीर की क्रिया होती है, यह बतलाने के लिये शरीर की क्रिया में विकल्प का आरोप करके जीव को शरीर का कर्ता कहा, वह उपचार है और उस उपचार का ज्ञान करना, वह असद्भूत -व्यवहारनय है। वास्तव में शरीर की क्रिया जड़ से होती है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है, ऐसा जानना, वह निश्चय और यथार्थ है।

४— उपचरित असद्भूतव्यवहारनय से जीव दूर क्षेत्रवर्ती ऐसे घर, वस्त्र इत्यादि का कर्ता है। (व्यवहार अर्थात् पराश्रयदृष्टि से आरोप, कल्पना)। अपने से प्रत्यक्ष दूर क्षेत्र में रही हुई वस्तुओं में लक्ष्य करके कर्ता-भोक्तापने की कल्पना जीव करता है।

शरीर और कर्म तो आत्मा के नजदीक में रहे हुए हैं, इसलिए वहाँ 'अनुपचरित व्यवहार' कहा था, और क्षेत्र से भी दूर है, ऐसी वस्तु का कर्तापना 'उपचरित व्यवहार' नय से कहा है। (जब घर चिना जाता हो, तब घर चिनने के विकल्पवाला जीव ही वहाँ निमित्तरूप होता है, दूसरा नहीं होता—ऐसा सम्बन्ध जानकर, उस जीव में ही कर्तापने का आरोप किया है। परवस्तु दूर है, इसलिए उपचरित, आत्मा में वास्तव में उस वस्तु का कर्तापना नहीं है, इसलिए असद्भूत और सच्चे ज्ञानपूर्वक पराश्रय के आरोप से कथन है, इसलिए व्यवहारनय; इस प्रकार आत्मा को भिन्न वस्तुओं के कर्तापने का उपचार करना, वह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय है। भिन्न वस्तुएँ कहने से पुत्र, पैसा, देश, मकान इत्यादि सर्व आ गये। 'मैंने लड़के को पालकर बड़ा किया, देश की व्यवस्था मैंने की' ऐसा जो वास्तव में मान ले, वह मिथ्यादृष्टि ही है, परन्तु स्वयं को लड़के की ओर का रागभाव था, उसे जानकर तथा लड़का मुझसे भिन्न वस्तु है, मैं उसे कुछ नहीं कर सकता, ऐसा परमार्थ का ज्ञान करके, ज्ञानी भी उपचार से कहता है कि मैंने लड़के का बड़ा किया; परन्तु वास्तव में ज्ञानी ऐसा नहीं मानता। उपचार का जो कथन है, वह तो अपना रागभाव था और सामने वस्तु की अवस्था का ज्ञान करने के लिये है, और उसका ज्ञान करना, वह व्यवहारनय है। निश्चय से तो कोई किसी को सम्हाल ही नहीं सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ भी करे, यह बात ही जैनधर्म को मान्य नहीं है अर्थात् कि परमसत्य में इस बात का स्वीकार नहीं है। परद्रव्य का जीव करे, ऐसा मानना, वह कल्पना है—असत्य है। रजकणों की अवस्था अपने आप बदलती है। रजकणों की अवस्था बदलती हो, तब जीव उपस्थित हो, वह वास्तव में तो ज्ञान ही करता है, वहाँ 'मैंने परमाणु की अवस्था की' ऐसा जो भ्रम से मानता है, वह मिथ्यात्वी है।

परमाणु स्वतन्त्र वस्तु है, प्रत्येक वस्तु में द्रव्यत्व नाम की त्रिकाली शक्ति है, उस शक्ति से परमाणु में स्वतन्त्ररूप से अवस्था बदलने की ताकत है, अवस्था बदलते-बदलते वह अपने आप मकान इत्यादि अवस्थारूप होता है। कारीगर ने मकान बनाया नहीं तथा कोई ईश्वर उसका कर्ता नहीं। परन्तु जब परमाणु मकानरूप परिणमते हैं, तब वहाँ उस ओर के लक्ष्यवाला जीव निमित्तरूप होता है—ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

को ज्ञानी जानता है, वहाँ उपचार से असद्भूतव्यवहार से जीव मकान का कर्ता है; ज्ञानी जानता है कि यह उपचारमात्र है अर्थात् उसे 'वास्तव में जीव, पुद्गल का कर सकता है'—ऐसा भ्रम नहीं पड़ता।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव वस्तु की स्वतन्त्रता बतलाते हैं। कोई अनादि शुद्ध ईश्वर यह सब करता है, ऐसा नहीं है; संसारी आत्मा स्वयं ही अज्ञान से अपनी अलग-अलग मलिन रागादिरूप अवस्था करता है और हर्ष-शोक को भोगता है, वह रागादि का कर्ता भी अशुद्ध निश्चय से है। वास्तव में (शुद्ध निश्चय से) आत्मा रागादि का कर्ता-भोक्ता ही नहीं है। परद्रव्य—शरीर तथा कर्म इत्यादि जड़ वस्तुओं के कर्ता-भोक्तापने के उपचार की बात तो दूर रही, यहाँ तो आत्मा में होनेवाले क्षणिक विकारभाव का कर्ता-भोक्ता भी शुद्ध निश्चय से नहीं है, ऐसा कहते हैं।

५— शुद्ध निश्चय से आत्मा अपने शुद्ध स्वभावभाव का कर्ता-भोक्ता है। शुद्ध निश्चय अर्थात् कि आत्मा का स्वभाव निर्मल आनन्दमूर्ति पवित्र ज्ञातास्वरूप वीतराग है, उस स्वभाव को देखनेवाली दृष्टि से देखो तो आत्मा अपने शुद्ध स्वभावभाव का कर्ता है। यहाँ 'स्वभावभाव' ऐसा कहकर द्रव्य-पर्याय का अभेदपना-निरपेक्षपना बतलाया है।

६— अन्तरस्वभाव के निर्मल लक्ष्य से जो दशा प्रगट हो, उस केवलज्ञानादि दशा का कर्ता-भोक्ता भी शुद्ध सद्भूतव्यवहार से है, निश्चय से तो केवलज्ञानादि दशा का कर्ता-भोक्ता भी नहीं है, क्योंकि उसमें भी भेद पड़ते हैं। अवस्था को भोगना और आत्मा भोगनेवाला, ऐसा जानने से भी दो भेद पड़ते हैं, इसलिए वह व्यवहारनय है। शुद्ध निर्मल पर्याय प्रगटे, उसका कर्ता-भोक्ता, वह भी सद्भूतव्यवहार! यह बात प्रत्येक आत्मा के अन्तरस्वरूप की है। आत्मा रागादि की कर्ता-भोक्ता है, वह कर्तापना तो निश्चय से अज्ञानभाव में जाता है, परन्तु आत्मा निर्मल आनन्ददशा का कर्ता-भोक्ता है, ऐसा जानना, वहाँ भी भेद आते होने से, वह सद्भूतव्यवहार है। त्रिकाल स्वभावदृष्टि में कर्ता-भोक्तापना नहीं, क्योंकि स्वभावदृष्टि में तो एक अखण्ड द्रव्य है; द्रव्य-पर्याय के भेद भी स्वभावदृष्टि में नहीं है। मोक्षदशा भी एक समयमात्र की है; वह समय-समय टिककर बदलते हुए भले अनन्त काल ऐसी की ऐसी एक सरीखी रहती है, तथापि वह त्रिकाल एकरूप नहीं है। त्रिकाल एकरूप स्वभाव, वह निश्चय है, उसमें कोई भेद

नहीं। एक समयमात्र की अवस्था का भेद जानना, वह व्यवहार है; आत्मा के असली स्वरूप में भेद नहीं पड़ता। उस असली स्वरूप का ज्ञान करना, वह शुद्धनिश्चय है।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल एकरूप है; संसारदशा हो या सिद्धदशा हो, परन्तु दोनों दशा में आत्मा का निश्चय से स्वभाव तो एक सरीखा ही है। मोक्ष या मोक्षमार्ग का अनुभव, वह व्यवहार है; आत्मा में रागादि विकार कायम नहीं रहता, परन्तु रागादि विकार आत्मा की अवस्था में होता है, इसलिए उसका कर्ता निश्चय से है और वे रागादि मलिनभाव होने से उसे अशुद्धनिश्चय कहा है। अशान्ति क्षणिक है—वह टल जाती है और आत्मा तो परमानन्दमूर्ति त्रिकाल शान्तिस्वरूप है। अशान्ति टलती है, इसलिए वह क्षणिक है और अशान्ति टालनेवाला शान्तस्वभाव त्रिकाल है।

आत्मा बीमार पड़ता नहीं। शरीर निर्बल पड़े, उसके कारण आत्मा को अशान्ति नहीं होती। घर के सब लोग बीमार हों और दूसरा कोई सम्हाल करनेवाला न हो, तब ममता के कारण चिन्ता किया करे और आकुलता-अशान्ति का वेदन करता है, परन्तु अपने शरीर को असाध्य रोग होगा, तब क्या करेगा? शरीर में रोग के समय, यदि स्वरूप का भान नहीं हो तो स्वरूप की शान्ति नहीं आवे, और यदि स्वरूप का भान किया होगा तो शरीर का रोग असाध्य हो तो भी किसकी चिन्ता? शान्तस्वरूप में एकाग्र होकर शान्ति भोगेगा।

आत्मा का स्वभाव त्रिकाल दृष्टि से विकाररहित है, तथापि वर्तमान अवस्था में रागादि से लिप्त है; यदि अवस्था में वर्तमानमात्र मलिनता ही न हो तो समझना और समझाना, यह कुछ नहीं होता। अवस्था में मलिनता है, परन्तु वह आत्मा का स्वरूप नहीं, इसलिए उसे टालने का उपाय बतलाया जाता है। वर्तमान में दु:ख है, उसे टालने का उपाय होगा या नहीं? यदि उपाय न हो तो क्या आत्मा को ऐसे ही भटकते रहना है और दु:ख ही भोगना है? ऐसा तो नहीं हो सकता। दु:ख टालने का उपाय है और उस उपाय से दु:ख टालकर सुख प्रगट होता है। परम गुरुओं की सेवा अर्थात् कि परम गुरुओं ने कहे हुए यथार्थ आत्मस्वरूप की समझ, वही दु:ख मिटाने का उपाय है, ऐसा श्री पद्मप्रभमल आचार्यदेव कहते हैं।

(मालिनी)

अपि च सकलरागद्वेषमोहात्मको यः,
परमगुरुपदाब्जद्वन्द्वसेवाप्रसादात्।
सहजसमयसारं निर्विकल्पं हि बुद्ध्वा,
स भवति परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ।।३०।।

सेवा अर्थात् पैर दबाना, यह नहीं, परन्तु उनकी आज्ञा मानना, कहें वैसा करना अर्थात् कि जो आत्मस्वरूप वे समझाते हैं, उसे समझना, इसका नाम सेवा है। गुरु के नाम की माला जपे या गुरु के निकट उठ-बैठ करे परन्तु वे क्या कहते हैं, उसे समझे नहीं तो वह सेवा नहीं कहलाती। 'परम गुरु की सेवा' कहने से सच्चे गुरु की पहिचान और उनका समागम करने का आया। जिसे-तिसे गुरु मानकर जहाँ-तहाँ भटकता है, उसके बदले सच्चे गुरु को पहिचानकर उनके समीप रहना, प्रत्यक्ष गुरु का योग न हो तो आत्मा में समीप रहना—सत् का लक्ष्य छोड़ना नहीं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—

'सन्त बिना अन्त की बात में अन्त प्राप्त नहीं होता।' सत् समागम से सत्-असत् का विवेक किये बिना सच्ची पहिचान नहीं होती। परम गुरु के चरण-कमल की सेवा, इसका अर्थ गुरु के पैर पकड़कर बैठे रहना, ऐसा नहीं, परन्तु उनकी आज्ञा की सच्ची समझ और श्रद्धा करना, वह सेवा है। क्षेत्र से निकट आया, इसलिए सत्समागम कहलाता है, ऐसा नहीं है, परन्तु उनके भाव के समीप जाना, वह सत्समागम है।

संसार में भी जैसा पिता करे, वैसा पुत्र करे तो उसने पिता की सेवा की कहलाती है। जैसे पिता दगा-प्रपंच करके व्यापार करता हो और यदि पुत्र वह दगा-प्रपंच न सीखे तो उसे तेजहीन कहा जाता है और यदि बाप से सवाया दगा-प्रपंच करे तो उसे होशियार कहा जाता है, यह तो संसार में भटकने की सेवा की कहलाती है; उसी प्रकार कोई सद्गुरुदेव के निकट पूरे दिन रहे परन्तु उनके भाव न समझे तो वह सेवा नहीं कहलाती। गुरु क्या कहते हैं, यह आशय बराबर अपने भाव में समझ जाये तो सेवा की कहलाती है।

परमगुरु की सेवा के प्रसाद से सर्व राग-द्वेष का नाश होकर मोक्षदशा होती है। शरीर, मन, वाणी से भिन्न और राग तथा भेद से रहित अखण्ड ज्ञायकस्वरूप को

एकरूप पहिचानना, वह परमगुरु की सेवा का प्रसाद है। उस प्रसाद से अर्थात् आत्मस्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता से आत्मा मोक्षरूपी परम स्त्री का कान्त होता है—स्वामी होता है। श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता द्वारा पूर्ण निर्मल दशा ऐसी प्रगट होती है कि वह अनन्त काल रहती है।

टीकाकार मुनिराज भी कहते हैं कि

(अनुष्टुप्)

भावकर्मनिरोधेन द्रव्यकर्मनिरोधनम्।
द्रव्यकर्मनिरोधेन सन्सारस्य निरोधनम्।।३१।।

आत्मा अपने रागादिरहित शुद्धस्वरूप को समझे और उसमें स्थिरता करे तो राग-द्वेष रुकें तो भावकर्म नहीं होता, भावकर्म का अभाव होने से द्रव्यकर्म भी नहीं होता और द्रव्यकर्म नहीं हो तो नोकर्म—शरीरादि नहीं मिलते और आत्मा संसार में नहीं रहता।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि—

(वसंततिलका)

सज्ज्ञानभावपरिमुक्तविमुग्धजीवः,
कुर्वन् शुभाशुभमनेकविधं स कर्म।
निर्मुक्ति-मार्ग-मणु-मप्यभिवाञ्छितुं नो,
जानाति तस्य शरणं न समस्ति लोके।।३२।।

अनादि काल से स्वरूप के सच्चे ज्ञान से भ्रष्ट होकर अज्ञानभाव से पुण्य-पाप करता है और उन्हें अपने मानता है, परन्तु पुण्य-पापरहित आत्मा के स्वरूप को नहीं पहिचानता। स्वरूप के अभान में अनन्त काल संसार में गया, परन्तु यदि आत्मा के निर्मल अबन्धस्वरूप की थोड़ी इच्छा करे—रुचि करे और रुचि से स्वरूप को समझे तो संसार रहे नहीं। 'थोड़ी इच्छा करे' ऐसा कहने का हेतु यह है कि आत्मा की समझ करने में बहुत (केवलज्ञान जितना) पुरुषार्थ नहीं है, परन्तु आत्मस्वरूप की समझ सरल है; प्रत्येक जीव आत्मा की सच्ची पहिचान कर सकता है। पंचम काल के जीव आत्मा की पहिचान न कर सके—यह बात खोटी है। आत्मा की समझ के लिये चौथा

काल या पंचम काल दोनों समान ही हैं। आत्मा के बन्धनरहित स्वरूप की रुचि करे तो सम्यक् भान होकर केवलज्ञान प्रगट हुए बिना नहीं रहे। दूज उगी, वह पूर्णिमा होगी ही। यहाँ 'अबन्धस्वरूप आत्मा की रुचि' ऐसे आत्मा की ओर से भाषा ली है। परन्तु 'कर्म हट जाने से आत्मा के गुण का उघाड़ होगा', ऐसी पराश्रित भाषा नहीं ली है। शुद्धात्मस्वभाव के लक्ष्य से एक बार भी रुचि करके स्वरूप को जाने तो स्वाधीन स्वभाव की शरण से केवलज्ञान प्रगट हो। इस लोक में आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई शरणभूत नहीं है।

टीकाकार कहते हैं कि :—

यः कर्म-शर्म-निकरं परिहृत्य सर्वं,
निःकर्मशर्मनिकरामृतवारिपूरे।
मज्जन्त-मत्यधिकचिन्मय-मेकरूपं,
स्वं भाव-मद्वय-ममुं समुपैति भव्यः।।३३।।

जो जीव कर्म से उत्पन्न हुआ ऐसा जो सम्पूर्ण बाधासहित सुख, उसका त्याग करता है अर्थात् शुभ-अशुभभाव और उसके फल का जो सम्पूर्ण त्याग करता है, वह भव्य जीव कर्मरहित निराकुल आनन्द समूहरूप अमृत समुद्र में डूबे हुए अनन्त शुद्ध चैतन्यमय एकरूप अद्वितीय अपने आत्मिक भाव को प्राप्त करता है।

पुण्य-पाप के भाव को अपना माने और पुण्य के फल से प्राप्त सुविधा का भोग करने की आकुलता करे, वह बाधासहित सुख है। जैसे लड्डू खाना, उसमें सुख माना हो तो वह सुख बाधासहित है। अर्थात् कि वास्तव में सुख नहीं है। सुख की हद नहीं होती—उकताहट नहीं होती। यदि लड्डू में सुख हो तो दो या तीन लड्डू खाने के बाद क्यों उसके प्रति अरुचि आती है? यदि उसमें सुख हो तो क्या सुख के प्रति अरुचि होगी? अज्ञानी उसमें सुख मानते हैं, इसलिए यहाँ उसे बाधासहित सुख कहा है—और उसे छोड़ने का कहा है। संसार के सम्पूर्ण विघ्नवाले सुख को यदि अन्तर से छोड़ दे तो वह भव्य सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा के निर्बाध निराकुल आनन्द के समूहरूप अमृत समुद्र में डूबकर—लीन होकर उसका अनुभव करते हैं और अत्यन्त शुद्ध सोलहवान स्वर्ण की भाँति शुद्ध चैतन्यमय एकरूप अद्वितीय ऐसे अपने आत्मभाव को प्राप्त करते हैं।

अब टीकाकार मुनिराज शुद्ध आत्मा के अनुभव की भावनारूप कलश कहते हैं।

(मालिनी)

असति सति विभावे तस्य चिन्तास्ति नो नः,
सतत-मनुभवामः शुद्ध-मात्मान-मेकम्।
हृदय-कमलसन्स्थं सर्व-कर्म-प्रमुक्तं,
न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात्।।३४।।

आचार्यदेव भावना करते हैं कि मेरे स्वभाव में कोई पुण्य-पाप विकार नहीं है, इसलिए जो मुझमें नहीं, उसकी मुझे चिन्ता नहीं। मैं सर्व कर्म से रहित मेरे शुद्धस्वभाव का अनुभव करता हूँ, क्योंकि इसके अतिरिक्त—आत्मा की शान्ति के वेदन के अतिरिक्त दूसरा कोई मुक्ति का उपाय नहीं है।

टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि —

(मालिनी)

भविनि भवगुणाः स्युः सिद्धजीवेऽपि नित्यं,
निजपरमगुणाः स्युः सिद्धिसिद्धाः समस्ताः।
व्यवहरणनयोऽयं निश्चयान्नैव सिद्धि-
र्न च भवति भवो वा निर्णयोऽयं बुधानाम्।।३५।।

संसारी प्राणी में रागादि विकारी अवस्था होती है और सिद्धपद में नित्य शुद्ध निर्विकारी दशा होती है—ऐसी जीवों की अवस्था में दो भेद डालना, वह व्यवहार है, वर्तमान दृष्टि है। परमार्थ से आत्मा संसार-मोक्ष, ऐसे दो पहलुओं से रहित नित्य एकरूप है। ज्ञानियों का परमार्थ निर्णय है कि—भगवान आत्मा बन्ध-मोक्ष के दो पहलुओं से रहित है; बन्ध-मोक्ष ये व्यवहार से हैं अवश्य; सर्वथा अभावरूप नहीं, परन्तु यहाँ वर्तमान दृष्टि गौण करके त्रिकाली स्वभाव से देखने पर वास्तव में आत्मा एकरूप निरपेक्ष है।

यदि निमित्त की अपेक्षा लो तो बन्ध-मोक्ष ऐसे दो पहलू पड़ते हैं, परन्तु यदि निमित्त की अपेक्षा न लेकर, अकेला निरपेक्ष द्रव्य लक्ष्य में लो तो वह त्रिकाल एकरूप

है, उसमें बन्ध-मोक्ष के भेद नहीं हैं। ऐसे निरपेक्ष द्रव्य के लक्ष्य से निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

त्रिकाल निरपेक्ष परिपूर्ण स्वभाव के लक्ष्य को छोड़कर, 'संसारदशा के समय मोक्षदशा नहीं होती और मोक्षदशा के समय संसारदशा नहीं होती'—ऐसे विकल्प से, दो भेद करके अवस्था पर कौन लक्ष्य करे? अवस्था पर दृष्टि करने से तो विकल्प उठते हैं; स्वभावदृष्टि में संसारदशा या मोक्षदशा का लक्ष्य नहीं है, ऐसे एकरूप स्वभाव पर दृष्टि का जोर, वही परमात्मदशा प्रगट होने का कारण है, बाहर के भंगभेद का लक्ष्य परमात्मदशा का कारण नहीं है।

★★★★★

गाथा-१९

व्याख्यान नं. २१, दिनांक ११-५-१९४४, गुरुवार

गाथा १९।

यहाँ तक अनेक प्रकार से जीवद्रव्य की पहिचान दी, बहुत-बहुत पहलुओं से जीवद्रव्य का वर्णन किया। अब जीव अधिकार पूरा करते हुए अन्तिम गाथा में आचार्यश्री कुन्दकुन्द भगवान दो नयों की सार्थकता बतलाते हैं :—

दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जय-णएण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहिं।।१९।।

द्रव्यार्थिकेन जीवा व्यतिरिक्ताः पूर्वभणितपर्यायात्।
पर्याय-नयेन जीवाः संयुक्ता भवन्ति द्वाभ्याम्।।१९।।

द्रव्यार्थिकनय से पूर्व में कथित अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायों से जीव पृथक् है परन्तु पर्यायार्थिकनय से जीव उन पर्यायों सहित है—ऐसा दोनों नयों का अभिप्राय है। सर्वज्ञ भगवान ने आत्मपदार्थ को सत्तामात्र अविकारीरूप से भी देखा है, और समय-समय में विकारीरूप से बदलता भी देखा है। इसलिए वस्तु को जानने के दो पक्ष हैं :— (१) त्रिकाल अविकारी स्वभाव को देखनेवाला द्रव्यार्थिक और (२) वर्तमानमात्र अवस्था को देखनेवाला पर्यायार्थिकनय। आत्मा वस्तु है, उसमें अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण की समय-समय में अवस्था होती है। एक गुण की एक समय में एक ही अवस्था प्रगट होती है, बाकी सब सत्तारूप से-ध्रुवरूप से है, अर्थात् कि एक समयमात्र की प्रगट अवस्था को लक्ष्य में गौण करके यदि त्रिकाली द्रव्य को देखो तो वह कायम एकरूप है, उसमें बन्ध-मोक्ष, विकार नहीं है। और अवस्था दृष्टि से देखने पर एक समय की अवस्था में बन्ध-मोक्ष है।

वस्तु को दो पक्षों से देखा जाता है—एक, त्रिकाली सामर्थ्यरूप स्वभावदृष्टि से और दूसरा—वर्तमान अवस्थारूप पर्यायदृष्टि से यह दोनों ज्ञान के पहलू हैं—इसे नय

कहा जाता है। नय अर्थात् सच्चे ज्ञान का एक अभिप्राय।

वस्तु में अनन्त गुण हैं, वर्तमान अवस्था में वे सब गुण पूरे प्रगट न हों, परन्तु उस गुण की एक अवस्था ही प्रगट होती है, एक गुण की सब अवस्था वर्तमान एक समय में प्रगट नहीं होती; एक समय की प्रगट अवस्था के समय द्रव्य-गुण-पर्याय से अभेद परिपूर्ण द्रव्यस्वभाव सत्तारूप है। पूरा सत्तास्वभाव है, उसे दृष्टि में लेना, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं; और वर्तमान पर्याय को देखना, वह पर्यायार्थिकनय है। दोनों नयों की अपेक्षापूर्वक का उपदेश ही जैनों को मान्य है। (यदि दो नयों की अपेक्षा न रखी जाये तो सर्वथा एकान्त हो जाये, वह मान्य नहीं है क्योंकि वस्तु का स्वरूप एकान्त नहीं है)। वस्तु को जानते हुए दो अपेक्षायें पड़ती हैं :— एक, त्रिकाल निर्मल है, उस वस्तु को देखनेवाली दृष्टि और दूसरी, समय-समय में अवस्था होती है, उसे देखनेवाली दृष्टि। आत्मा असंख्य प्रदेशी है, वह प्रदेशों की अवस्था पन्द्रहवीं गाथा में विस्तार से कही है। आत्मा के प्रदेशों का मनुष्याकृतिरूप विकारी आकार एक ही समय का है—वह विभावव्यंजनपर्याय है। शरीर के निमित्त कारण से आत्मा के प्रदेशों में जो आकार होता है, वह व्यंजनपर्याय विकारी है और आत्मा के (प्रदेशत्वगुण के अतिरिक्त) गुणों का बदलना, वह अर्थपर्याय है। यह दोनों पर्यायें एकसमय मात्र की है, उन्हें लक्ष्य में लेनेवाले ज्ञान के पक्ष को पर्यायार्थिकनय कहा जाता है और उस पर्यायरहित पूरा दल जो त्रिकाल एकरूप है, उसे लक्ष्य में ले, उस ज्ञान को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। द्रव्यार्थिकनय से वस्तु एकरूप निरपेक्ष है, उसमें विकार या बन्ध-मोक्ष नहीं है, परन्तु इससे कहीं वर्तमान रागादिवाली अवस्था है ही नहीं - ऐसा नहीं है। यदि वह अवस्था न हो तो पर्यायार्थिकनय ही नहीं रहता और एकान्तवाद का प्रसंग आ पड़ता है। वर्तमान एक समयमात्र की अवस्था को देखने से बन्ध-मोक्ष है, विकार है, उस अवस्था को लक्ष्य में लेनेवाले ज्ञान को पर्यायार्थिकनय कहते हैं। जैसे कोई साठ वर्ष की उम्र का व्यक्ति हो, उसे एक-एक समय करते-करते साठ वर्ष हुए हैं। उसे देखने से अकेला सामान्य मनुष्यपना लक्ष्य में लेना, वह ज्ञान की अपेक्षा का एक भाग है, उसे द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है और क्षण-क्षणमात्र की बाल-युवा इत्यादि अवस्था को लक्ष्य में लेना, उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं। मनुष्य की साठ वर्ष की अवस्था एक समय में तो आ नहीं

गयी। साठ वर्ष में वर्तमान तो एक ही समय होता है, एक समय-समय करते साठ वर्ष हुए हैं; उसी प्रकार आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है, त्रिकाल एकरूप अनन्त गुण का पिण्ड है। प्रत्येक गुण में अनादि-अनन्त काल की अवस्था का सामर्थ्य है। एक समय की अवस्था में पूरी वस्तु या गुण आ नहीं जाते, तथा पूरी वस्तु एक समय की अवस्था जितनी नहीं हो जाती। वस्तु एक समयमात्र नहीं है। यदि वस्तु एक समयमात्र हो तो एक समय बदलकर दूसरा समय आने पर पूरी वस्तु का नाश हो जाये।

यह वस्तु का धर्म कहा जाता है। धार रखे, वह धर्म। अपने गुण-पर्याय को टिका रखना, वह वस्तु का धर्म है। क्षण-क्षण में होती अवस्था को और गुण को वस्तु टिकाये रखती है—धार रखती है। रागादि विकारी क्षणिक अवस्था को भी वस्तु एक समय मात्र टिका रखती है, इसलिए वह विकारी धर्म है। द्रव्य अलग और उसकी विकारी अवस्था उससे अलग, ऐसा नहीं, परन्तु द्रव्य की अवस्था में समयमात्र का विकार है, यह बतलाने के लिये विकार को टिका रखना, उसे भी धर्म कहा है। यहाँ धर्म शब्द 'त्रिकाली स्वभाव' इस अर्थ में नहीं है। विकारी पर्याय को धारण कर रखता है, वह वस्तु का धर्म है; यहाँ जो 'धर्म' कहा, वह मोक्ष का कारण नहीं, परन्तु क्षणिक अवस्था है, यह बताने के लिये उसे धर्म कहा है। आत्मा के निर्मल स्वाभाविक गुण, वह त्रिकाली धर्म है और अवस्था में विकार है, वह क्षणिक धर्म है। एक क्षणिक धर्म और दूसरा त्रिकाली धर्म अर्थात् कि वर्तमान अवस्था और त्रिकाली स्वभाव, ऐसे दो पहलू किये, उसे जाननेवाले ज्ञान में दो पहलू, वह द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय है। त्रिकाली स्वभाव को मुख्य करके और अवस्था को गौण करके, त्रिकाल एकरूप मुक्त ही हूँ, बन्ध-मोक्ष स्वभाव में नहीं, ऐसे त्रिकाल अविचल (चलाचलरहित, फेरफाररहित) स्वभाव को लक्ष्य में लेना, वह द्रव्यार्थिकनय है, परन्तु अवस्था में रागादि हैं, उनका भी ज्ञान होना चाहिए। यदि अवस्था में रागादि सर्वथा न ही हो तो परमानन्द मुक्तदशा प्रगट हो और परमानन्द मुक्तदशा हो तो समझने का, उपदेश देने का या उपदेश सुनने का भी न हो। परन्तु अभी अधूरी दशा है, वहाँ रागादि है, उसका ज्ञान करना, वह पर्यायार्थिकनय है। रागादि, वह अर्थपर्याय है और आत्मप्रदेशों का आकार, वह व्यंजनपर्याय है। जितनी जगह को एक छोटे में छोटा परमाणु रोके, उतनी जगह को

एक 'प्रदेश' कहा जाता है। ऐसे असंख्य प्रदेश को रोके उतना एक आत्मा चौड़ा है, अर्थात् कि आत्मा असंख्य प्रदेशी है। शरीराकार उन प्रदेशों की अवस्था, वह व्यंजनपर्याय है। व्यंजनपर्याय भी क्षणिक है। उस अवस्था को लक्ष्य में लेना, वह पर्यायार्थिकनय है।

आत्मा के त्रिकाल एकरूप अनादि-अनन्त स्वभाव को लक्ष्य में लेना, वह वस्तुदृष्टि है। आत्मा में जो हालत होती है, उस हालत जितना आत्मा नहीं है; निर्मल पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है। यदि आत्मा निर्मल पर्याय जितना ही हो तो वह निर्मल पर्याय के बाद फिर दूसरी पर्याय कहाँ से आयेगी? आत्मा की जो-जो अवस्था होती है, वह सब—तीनों काल की अवस्था का सामर्थ्य वस्तु में त्रिकाल पूरा है, उसे लक्ष्य में लेना, उसे द्रव्यदृष्टि, तत्त्वदृष्टि, परमार्थदृष्टि, वस्तुदृष्टि, सच्ची दृष्टि अथवा द्रव्यार्थिकनय कहा जाता है।

दो नय हैं—उन दोनों नयों का ज्ञान होना चाहिए। मनुष्यपर्याय, देवपर्याय इत्यादि रूप क्षण-क्षण में जो आकार होता है, वह व्यंजनपर्याय (आत्मा के प्रदेशत्वगुण की पर्याय) है। वह समयमात्र की है, उसे यदि न जाने तो पूरी वस्तु का पूर्ण ज्ञान नहीं और पर्याय को ही जाने परन्तु गुण-पर्याय के समूह से पूर्ण त्रिकाली वस्तु को न जाने तो भी ज्ञान पूरा नहीं अर्थात् वह ज्ञान सच्चा नहीं। अनन्त गुण-पर्यायों से अभेद द्रव्य को लक्ष्य में लेना, वह द्रव्यार्थिकनय और वर्तमान अवस्था को लक्ष्य में लेना, वह पर्यायार्थिकनय—ये दोनों होकर ज्ञान सच्चा होता है।

यह तो विषय बहुत सरस आया है। यह तो अनादि की नींद उड़ाने का अवसर आया है और ऐसे समय में झोंका कैसे आवे.... ? आत्मा की दरकार करके बराबर समझना चाहिए।

दोनों अपेक्षाओं से बराबर समझना चाहिए। दो अपेक्षाओं पर पूरे जैन शासन का कथन है। जैनशासन अर्थात् वस्तुस्वभाव। वस्तुस्वभाव दो अपेक्षा द्वारा समझा जा सकता है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकर देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवान ने अपने पूर्ण ज्ञान में जैसा पूरा वस्तुस्वभाव जाना, वैसा ही स्वभाव कहा है, सुननेवाले का ज्ञान हीन है परन्तु

वस्तुस्वभाव पूरा है; अल्प ज्ञान में पूरा वस्तुस्वभाव एक साथ नहीं आ सकता, इसलिए अपेक्षा द्वारा वस्तु के पहलुओं को मुख्य-गौण करके समझाया जाता है। यदि वस्तुस्वभाव में परिपूर्णता न हो तो मुख्य-गौण करके पूर्णता समझाना नहीं हो और यदि ज्ञान पूरा हो तो भी भेद पाड़कर समझाना पड़े नहीं, क्योंकि पूरे ज्ञान में तो पूरी वस्तु का (द्रव्य-पर्याय का) ज्ञान एकसाथ होता है, परन्तु ज्ञान अधूरा है, इसलिए वह द्रव्य-पर्यायस्वरूप पूर्ण वस्तु को एकसाथ लक्ष्य में नहीं ले सकता, इसलिए मुख्य-गौण करके समझाना पड़ता है।

बहुत परमाणु मिलकर उनकी लकड़ीरूप अवस्था हुई, वह लकड़ीरूप अवस्था समय-समय में बदलती है। लकड़ीरूप अवस्था जितनी वस्तु नहीं, परन्तु वस्तु तो त्रिकाल परमाणु है, उसकी 'लगभग सरीखी' अवस्था अमुक काल रहती है, इसलिए 'लकड़ी मूल वस्तु है', ऐसा मूल वस्तु को न जाननेवाले को भ्रम पड़ता है। मूल वस्तु तो परमाणु हैं, लकड़ी उसकी क्षणिक अवस्था है। उस अवस्था जितनी वस्तु नहीं है। वस्तु कायम रहकर उसकी अवस्था समय-समय में बदले बिना नहीं रहती। आत्मा त्रिकाली वस्तु है, उसकी समय-समय में अवस्था बदलती है, एक समय में एक ही अवस्था होती है, वहाँ स्थूल दृष्टिवाला वर्तमान अवस्था को ही देखता है और उस अवस्था जितना ही द्रव्य मानता है—उसकी दृष्टि खोटी है परन्तु वर्तमान अवस्था के पीछे रहा हुआ त्रिकाली तत्त्व है, उसे लक्ष्य में लेना, वह द्रव्यदृष्टि है और वही सत्यदृष्टि है।

दो नयों में से एक का ही उपदेश करे तो वह यथार्थ नहीं है, पर्याय के ऊपर का झुकाव छोड़कर द्रव्य के ऊपर झुकाव कराने को कहा कि त्रिकाली स्वभाव की ओर दृष्टि कर, अन्तरस्वभाव एकरूप है, उसे देखे। यहाँ 'अन्तर स्वभाव को देख' ऐसा कहते ही अन्तरस्वभाव सन्मुख झुकनेरूप अवस्था भी सिद्ध हो गयी और अवस्था का परिणमन भी सिद्ध हो गया। वर्तमान अवस्था का पर की ओर झुकाव जाता है, उसे स्वसन्मुख झुकाने को कहा जाता है। अवस्था का परिणमन तो प्रत्येक जीव को समय-समय में है, परन्तु एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्था हो, वह जीव बाहर में

एकाकार करे या अन्तर स्वभाव में एकाकार करे, उस पर अशुद्धता या शुद्धता प्रगट होने का आधार है। यदि अन्तर में परिपूर्ण शुद्धता न हो तो प्रगट करने का ही रहे नहीं और यदि वर्तमान में वह शुद्धता प्रगट हो तो भी करने का रहे नहीं—इसमें स्वभाव और पर्याय दोनों सिद्ध हो गये। स्वभाव पूरा है और अवस्था अधूरी है, ऐसा जाने तो पूरे स्वभाव के लक्ष्य से अवस्था की पूर्णता प्रगट करे।

वर्तमान अवस्था पर में एकाकार होने से वर्तमान पर्याय रागादिवाली अशुद्ध है। वह अवस्था एक समयमात्र की है। दूसरे समय में वह अवस्था बदलकर जो स्व में एकाकार करे तो शुद्धता प्रगट होती है और अशुद्धता टलती है अर्थात् स्वसन्मुख झुकने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

वस्तुदृष्टि से आत्मा एकरूप है, अवस्था दृष्टि से व्यंजनपर्याय वर्तमान विकाररूप पर्याय है और अव्यंजन अर्थात् अप्रगट पर्याय भी है। प्रगटरूप पर्याय को लक्ष्य में लेना, वह व्यवहार है, क्योंकि पर्याय का लक्ष्य करने से, अखण्ड वस्तु में एक समय का खण्ड होकर वह लक्ष्य हुआ है।

आचार्यदेव इस गाथा में तो नय अपेक्षा से ऐसा कहते हैं कि—विकार, आकार और निर्मल अवस्था सब आत्मा में त्रिकाल है। सब आत्मा में कहने से सिद्ध के आत्मा भी आये और सिद्धभगवान में भी विकार है, ऐसा नय अपेक्षा से आया, तथा संसारी जीव में शुद्धता है, ऐसा भी आया। वह किस प्रकार, इसका स्पष्टीकरण आगे आता है।

प्रश्न—सिद्ध को विकार कैसे कहा जा सकता है? और आकार असंख्य प्रदेशी एक ही प्रकार है—आकृति बदलती नहीं, अकेला आत्मा ही है, उसे रागादि की अवस्था या आकार (विभाव अर्थपर्याय या व्यंजनपर्याय) रूप से बदलना नहीं, तथापि यहाँ 'आकार, विकार और निर्मल अवस्था सब आत्मा में त्रिकाल है।' ऐसा क्यों कहा? सब आत्मा को निर्मल पर्याय प्रगट और सब आत्मा की विकारी दशा प्रगट, यह किस प्रकार लागू पड़ता है।

उत्तर—अवस्थादृष्टि से नैगमनय के आरोप से यह बात की है। वस्तुदृष्टि से तो सभी आत्मा शुद्ध ही है। अवस्थादृष्टि से संसारी जीवों को रागादि विकार है और सिद्ध

को भी पर्यायदृष्टि से, भूतनैगमनय से, पूर्व की विकारी पर्याय का वर्तमान में आरोप करके विकारी पर्याय कही जा सकती है। वास्तव में सिद्ध को वर्तमान पर्याय में विकार नहीं, उसी प्रकार संसारी जीवों को भविष्य की शुद्धपर्याय का वर्तमान में आरोप करके, भावी नैगमनय से शुद्धपर्याय कही जा सकती है।

नैगमनय=वस्तु के बहुत पहलू करके उसमें किसी को मुख्य करके जो ज्ञान का पहलू लक्ष्य में ले, वैसें एक छोटे में छोटे ज्ञान के भाग को नैगमनय कहा जाता है।

संसार के समय सिद्धदशा नहीं है, संसार में व्यंजनाकार में फेरफान होता है (संकोच-विस्तार होता है), तब फेरफारपना न हो और सिद्ध में आकार एकरूप हो, वहाँ परिणमन होने पर भी फेरफारवाला नहीं होता। वस्तुदृष्टि से देखने पर बन्ध-मोक्ष के भेदरहित त्रिकाल एकरूप है। जैसे मनुष्यपने की अपेक्षा बाल-युवा-वृद्ध इन सर्व दशा में मनुष्य, वह तो मनुष्य ही है। उसी प्रकार बाल अर्थात् अज्ञानदशा युवा अर्थात् धर्मकाल—साधकदशा और वृद्ध अर्थात् परिपूर्ण सिद्धदशा-इन सब दशा में आत्मा तो आत्मा ही है। आत्मा कहने से उसमें तीन प्रकार की अवस्था लक्ष्य में न लेकर एकरूप निर्मल त्रिकाल स्वभावभावसामान्यधर्म लक्ष्य में लेना, वह द्रव्यदृष्टि है—वही सम्यग्दर्शन है; और विशेष धर्म अर्थात् पर्याय को लक्ष्य में लेना, वह पर्यायदृष्टि है। निर्मल पर्याय या विकारी पर्याय इन दोनों को वस्तु के विशेष धर्म कहा जाता है। वस्तु सामान्य-विशेष धर्मस्वरूप है। एक धर्म को मुख्य और दूसरे धर्म को गौण करना, वह नय का कार्य है। दो नय होकर पूरा ज्ञान है। वस्तु में दो पहलू भिन्न नहीं, परन्तु समझाने के लिये मुख्य-गौण किये जाते हैं।

आत्मा वस्तु त्रिकाल एकरूप है और उसकी अवस्था एक समयमात्र की ही होती है। विकारी राग, द्वेष, बन्धवाली अवस्था हो, मोक्षमार्ग अवस्था हो या मोक्षदशा हो, परन्तु एक समय में एक ही दशा प्रगटरूप होती है; उसे लक्ष्य में लेना, वह पर्यायदृष्टि और जिस द्रव्य में से वह सब अवस्थायें द्रवती है-प्रगटती है, उस द्रव्य को, बन्ध-मोक्ष के भेदरहित लक्ष्य में लेना, वह द्रव्यदृष्टि है। यह बात सूक्ष्म और अच्छी होने से बहुत-बहुत प्रकार से बदल-बदलकर सरल रीति से समझायी जाती है।

लौकिक में पारस्परिक बहिन दी हो, वहाँ उसे एक रीति से बहनोई कहा जाता है और उसे ही दूसरी रीति से साला कहा जाता है। वहाँ दो अलग अपेक्षा से दो रिश्ते हैं, वे दोनों ख्याल में रखते हैं, और प्रसंगवशात् मुख्य-गौण करते हैं। उसी प्रकार आत्मा में दो सम्बन्ध की अपेक्षा से देखा जाता है, त्रिकाल एकरूप स्वभाव की दृष्टि से देखने पर तो सब आत्मा शुद्ध है, विकार की दृष्टि से देखने पर अवस्था में विकार है। सिद्ध में भी अवस्थादृष्टि से भूतकाल की पर्याय के विकार का वर्तमान में आरोप करके 'सिद्ध को भी विकार है', ऐसा कहा जाता है। यह आरोप करना, उसे 'भूतनैगमनय' कहा जाता है। पूर्व की अवस्था को वर्तमान में याद करके वर्तमान में उसका आरोप करना, वह भूतनैगमनय है। कोई वर्तमान पैसेवाला हो और पूर्व का निर्धनपना स्मरण करता हो कि पूर्व में निर्धनदशा में अमुक व्यक्ति ने मदद की इत्यादि। वहाँ पूर्व का निर्धनपना याद करने पर उस अवसर में वास्तव में निर्धनपना नहीं, तथापि भूतकाल की अपेक्षा से निर्धनपने का वर्तमान में आरोप करके बोले कि 'महाजन का दाना अभी हमारी दाढ़ में है।' उसी प्रकार सिद्ध भगवान पूर्व में सिद्धदशा से पहले निगोद में भटकते थे, वर्तमान में उस सिद्धदशारूप धनवान (स्वरूप की लक्ष्मी के धनी) हो गये, तथापि पूर्व की निगोददशा का वर्तमान में आरोप करके, भूतनैगमनय से 'सिद्ध को विकार है', ऐसा कहा जाता है।

अब भाविनैगमनय की बात करते हैं। वर्तमान संसारी विकारीदशा होने पर भी निर्मल दशा है ऐसा, भविष्यकाल की योग्यता का वर्तमान पर्याय में आरोप करके कहना, वह भाविनैगमनय है। भाविनैगमनय से सम्यग्दृष्टि को सिद्ध कहा जा सकता है। जैसे कोई मनुष्य निर्धन होने पर भी निर्धनपने को गौण करके कहता है कि—अपने तो कल सवेरे पैसे हो जायेंगे, बाणा तेने शा दुकाणा। अपन पैसेवाले ही हैं - ऐसा कहते हैं। वहाँ भविष्य की सधनता का वर्तमान निर्धनता में आरोप किया है; उसी प्रकार वर्तमान दशा में विकार होने पर भी अविकारी स्वभाव की दृष्टि के जोर की अपेक्षा से भविष्य की अविकारी पवित्र मोक्षदशा का भाविनैगमनय से वर्तमान में आरोप करके वर्तमान में निर्मलदशा कही जाती है। यह सब अवस्था के भेद की बात है। वस्तु में तो सिद्ध और संसारी ऐसे भेद नहीं, वस्तु से सब आत्मा समान है। अवस्थादृष्टि में सिद्ध और संसारी

ऐसे भेद हैं और संसारी तथा सिद्ध दोनों को विकारी और अविकारी, नय अपेक्षा से कहा जा सकता है। आरोप पर्याय में होता है, वस्तु में आरोप होता ही नहीं, वस्तु स्वभाव तो अनारोप-निरपेक्ष है।

वस्तु से सब आत्मा भिन्न-भिन्न त्रिकाल एकरूप है और अवस्था में वर्तमान सिद्धदशा हो, वहाँ संसारदशा नहीं होती और संसारदशा हो, तब सिद्धदशा नहीं होती—यह आरोप किये बिना का पर्यायकथन है, परन्तु आरोप करके सिद्धदशा के समय संसारदशा और संसारदशा के समय सिद्धदशा कही जा सकी है। यह नय के पहलू समझने की बात है। आगे गाथा ८९ के कलश में आचार्यदेव स्वयं कहते हैं कि —'हे जिनेन्द्र! आपका तत्त्व परम आश्चर्यकारी है, मानो इन्द्रजाल ही है क्या?' यहाँ 'इन्द्रजाल' की उपमा दी है। यदि नय पक्ष में ही उलझ जाये और परमार्थस्वरूप न समझे तो इन्द्रजाल जैसा ही लगे और यदि परमार्थस्वरूप समझे और नय पक्ष बराबर समझे तो तत्त्व की विशालता देखकर परम आश्चर्य होता है। श्री समयप्राभृत में कहा है कि 'द्रव्य-पर्यायात्मक अनन्त धर्मवाला वस्तु का स्वभाव है। वह अज्ञानियों के ज्ञान में आश्चर्य उपजाता है कि यह तो असम्भवित जैसी बात है! ज्ञानियों को यद्यपि वस्तु स्वभाव में आश्चर्य नहीं, तथापि उन्हें पूर्व में कभी नहीं हुआ था, ऐसा परम अद्भुत आनन्द होता है और इससे आश्चर्य भी होता है।'

गत काल में जो अवस्था हो गयी हो, उसे वर्तमान वर्तती हो, ऐसा कहा जाता है, भविष्य में अवस्था होनेवाली हो, उसे वर्तमान कहा जा सकता है—यह सब भूत-भविष्य की अवस्था जाननेवाला ज्ञान का त्रिकाल सामर्थ्य है—घोटाला नहीं। भूतकाल में हो गयी और भविष्य में होगी, उस सब अवस्था को वर्तमानरूप से जानने को ज्ञान समर्थ है; वह ज्ञानस्वभाव की महिमा है।

भगवान का उपदेश, वह अपेक्षासहित है; एकान्त उपदेश भगवान का नहीं है। निश्चयदृष्टि का विषय अखण्ड है, उसके विषय में व्यवहार या व्यवहार के विषयरूप खण्ड, भेद, अवस्था आती नहीं परन्तु व्यवहार और उसका विषय अभावरूप नहीं; वर्तमान मात्र है सही। व्यवहार की ही दृष्टि को मिथ्यादृष्टि-खोटी दृष्टि कही है, क्योंकि

व्यवहारनय एक वर्तमान अंश को ही लक्ष्य में लेता है और पूरा त्रिकाली पदार्थ, उसे लक्ष्य में नहीं लेता और जो पूरे त्रिकाली द्रव्य को प्रतीति में न ले, वह दृष्टि सच्ची नहीं है; इसलिए निश्चयदृष्टि को मुख्य कर अखण्ड त्रिकाली पदार्थ को लक्ष्य में लेना, वही सम्यग्दर्शन है।

यहाँ प्रथम नयों का स्वरूप बताकर, फिर उसका लक्ष्य छुड़ाकर अखण्ड वस्तु की ओर प्रौढ़ विवेक द्वारा लक्ष्य कराते हैं। अखण्ड वस्तु को लक्ष्य में लेना, उसे 'प्रौढ़ विवेक' कहा है परन्तु जिसकी पर्याय के ऊपर ही दृष्टि है, वह व्यवहार मूढ़ अर्थात् अविवेकी है। श्री समयप्राभृत की ४१३वीं गाथा की टीका में पर्यायदृष्टि को 'अनादिरूढ़' 'व्यवहार में मूढ़' 'प्रौढ़ विवेकवाले निश्चय पर अनारूढ़' कहा है, इसलिए व्यवहारदृष्टि छोड़कर अखण्ड ज्ञायकस्वरूप समयसार को (आत्मा को) लक्ष्य में लेना, वह प्रौढ़ विवेक पर आरूढ़ता है। प्रौढ़ विवेक अर्थात् क्या? निश्चय-व्यवहार दोनों नयों को जानकर, पश्चात् जो निश्चय के अखण्ड विषय की ओर ढलता है, वह प्रौढ़ विवेकी है; ज्ञान में दोनों नयों का स्वीकार करके निश्चय में आरूढ़ है। व्यवहारनय है, उसे न मानो तो विवेक नहीं कहलाता और यदि व्यवहार में ही रुक जाये तो भी वह निश्चय में अनारूढ़ वर्तता हुआ अविवेकी है। नयों का जो ज्ञान कराते हैं, वह भेद का लक्ष्य रखने के लिये नहीं परन्तु भेदरहित अभेदस्वरूप है, उस ओर लक्ष्य करने के लिये कहा जाता है।

★★★★★

व्याख्यान नं. २२, दिनांक १२-५-१९४४, शुक्रवार

(गाथा १९ चालू, पृष्ठ ३३३)

त्रिकाली स्वभाव और वर्तमान अवस्था, इन दो अपेक्षा से आत्मतत्त्व को बतलाया है। अवस्थादृष्टि को लक्ष्य में गौण करके त्रिकाल एकरूप स्वभाव को लक्ष्य में लेना अर्थात् उस पर दृष्टि का जोर देना, वह द्रव्यदृष्टि और अवस्था को लक्ष्य में लेना, वह पर्यायदृष्टि है; इन दोनों पहलुओं का ज्ञान, वह प्रमाण है।

जीव अर्थात् आत्मा अनन्त गुणों के पिण्डरूप त्रिकाली वस्तु है। वस्तु में गुण कायम होते हैं। वस्तु और गुण कायम होने पर भी अवस्था क्षण-क्षण में बदलती है, अवस्था एक समय में एक ही प्रगट होती है और द्रव्य-गुण का सत्त्व तो त्रिकाल एक रूप ही अखण्ड होता है; उस अखण्ड वस्तु का लक्ष्य करना, वह द्रव्यदृष्टि है और पर्याय का लक्ष्य करना, वह पर्यायदृष्टि है। पर्याय एक समयमात्र की है, मोक्षपर्याय भी एक समय की ही है। मोक्षपर्याय एक समय में दो प्रगटरूप नहीं हो सकती। निर्मल सिद्ध दशा में भी सब काल का अनुभव एक समय में इकट्ठा होकर नहीं आता। तथा संसारदशा भी एक ही समयमात्र की है। परवस्तु, वह संसार नहीं परन्तु आत्मा का विकारभाव, वह संसार है; राग-द्वेष विकारभाव एक ही समयमात्र के हैं, एक समय जाने के बाद दूसरा समय आता है। एक समय रहकर दूसरा समय आवे—ऐसे दो समय कभी एकत्रित नहीं होते। एक समय की अवस्था में दूसरे समय की अवस्था इकट्ठी नहीं होती। संसारदशा एक समय की, मोक्षमार्गदशा एक समय की और मोक्षदशा भी एक ही समय की है। रागादि मेरे, ऐसी उल्टी श्रद्धा, वह संसार है; एक-एक समय में नया-नया करके भले राग-द्वेष लम्बे काल रहा करे, परन्तु पहले समय के राग-द्वेष टलकर दूसरे समय में उस जाति के नये हुए हैं, वहाँ जाति ऐसी की ऐसी होने पर भी समय बदल गया है, दूसरे समय का विकार उस समय नया किया है।

यहाँ अवस्था का स्वरूप बतलाने का प्रयोजन यह है कि अवस्था क्षणिक है, इसलिए उस पर दृष्टि का वजन न देकर त्रिकाली द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि का वजन देना; त्रिकाली स्वभाव के लक्ष्य से अवस्था निर्मल हो जाती है।

त्रिकाली द्रव्य-गुणस्वरूप आत्मा है, उसकी एक समय में एक ही अवस्था होती है, संसार या मोक्ष एक ही समयमात्र की पर्याय है; संसारदशा का अभाव करके मोक्षदशा अपने पुरुषार्थ से प्रगट हो सकती है। संसार अनादि का है, परन्तु दो समय का विकार एकत्रित नहीं हुआ है।

आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड त्रिकाल वस्तु है, द्रव्य-गुण कायम रहकर अवस्था समय-समय में बदलती है। व्यवहारनय उस बदलती एक समयमात्र की अवस्था को ही पकड़ता है, इसलिए वह अभूतार्थ है। मोक्षदशा प्रगट होने के पश्चात् भले अनन्त काल ऐसी की ऐसी रहती है, तथापि वह एक समयमात्र की ही है। एक-एक समय में बदल-बदलकर अनन्त काल तक एक जाति की अवस्था हो, परन्तु एक समय में दो अवस्था इकट्ठी नहीं होती; ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। सब आत्मा ऐसे ही स्वरूप से है; आत्मा स्वयं क्या वस्तु है और द्रव्य-गुण-पर्याय का क्या स्वरूप है, वही अनन्त काल से जीवों ने सुना नहीं। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव कायम रहकर अवस्था बदलती है, रजकण वस्तु है, उसका स्वभाव भी अपनी अवस्था अपने से बदलने का है।

आत्मवस्तु को जानने में ज्ञान के दो पहलू (दोनों नय) कैसे किये, वह कहा जाता है। आत्मा वस्तु तो एक-एक समय में अनन्त शक्ति से पूर्ण ही है। वस्तु त्रिकाल परिपूर्ण ही होती है, किसी समय वस्तु पूरी न हो, ऐसा नहीं है। उस पूर्ण वस्तु को लक्ष्य में लेना, वह द्रव्यदृष्टि है और समय-समय में बदलती अवस्था को लक्ष्य में लेना, वह पर्यायदृष्टि है। द्रव्यदृष्टि अर्थात् निश्चयनय और पर्यायदृष्टि अर्थात् व्यवहारनय।

मनुष्य की बाल, युवा और वृद्ध, वह सब अवस्था एक साथ नहीं होती। बाल हो, तब युवा अवस्था नहीं होती; युवा हो, तब वृद्धदशा नहीं होती। और पन्द्रह वर्ष तक की बाल अवस्था भले रहे, परन्तु वह पन्द्रह वर्ष भी एक समय में नहीं हो गये। एक-एक समय में पलटकर पन्द्रह वर्ष हुए हैं; उसी प्रकार अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा वस्तु, उसके ज्ञानादि अनन्त गुण, उन सब गुणों की अवस्था एक समय में एक होती है। संसारदशा के समय सिद्धदशा नहीं होती, सिद्धदशा के समय संसारदशा नहीं होती। एक समय में एक दशा होती है। उसमें भी संसारदशा में अनन्त काल की अवस्था

इकट्ठी नहीं आ जाती, परन्तु एक समय में एक दशा ही होती है, मोक्ष में भी एक समय में एक ही प्रगट दशा होती है। समय-समय बदलकर अनन्त काल जाता है।

इस नियमसारजी में जीव अधिकार पूरा करते हुए अन्त में नय विभाग का स्वरूप स्पष्ट किया है। वस्तु तो त्रिकाल ज्ञानादि स्वभाव से एकरूप है, उस वस्तुस्वभाव को लक्ष्य में ले, वह द्रव्यदृष्टि है और वर्तमान अशुद्ध, हीन या शुद्ध इन इत्यादि पर्यायों को लक्ष्य में ले, वह पर्यायदृष्टि है। यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि अधिक क्या कहें! दो अपेक्षा लागू करने से समस्त जीवों की शुद्ध और अशुद्ध अवस्था है। सिद्ध को भी शुद्ध-अशुद्ध अवस्था है और संसारी को भी शुद्ध-अशुद्ध अवस्था है। ऐसा नय विभाग की अपेक्षा द्वारा कहा जा सकता है। यह बताकर वास्तव में तो अवस्था का लक्ष्य छुड़ाकर वस्तुस्वभाव का लक्ष्य कराना है।

प्रश्न—सिद्ध जीवों को अशुद्ध अवस्था किस अपेक्षा से कही जाती है? और संसारी जीवों को शुद्ध अवस्था किस अपेक्षा से कही जाती है?

उत्तर—सिद्ध को भी पूर्व में विकारी अवस्था थी, वह अवस्था गयी, तब निर्मल अवस्था हुई। उस पूर्व की विकार अवस्था का आरोप करके सिद्धदशा के समय भी भूतनैगमनय से मलिन—अशुद्धदशा कही जाती है और इसी प्रकार संसारी जीवों को निर्मल शुद्धदशा भविष्य में प्रगट होने की शक्ति है, इस अपेक्षा से भाविनैगमनय से वर्तमान निर्मल दशा भी कही जाती है। यह शुद्ध-अशुद्ध अर्थात् संसार और मोक्ष, यह भेद अवस्थादृष्टि में है, वस्तु दृष्टि में संसार-मोक्ष के भेद नहीं हैं। इस प्रकार भेद-अभेद दोनों दृष्टि से ज्ञान करना प्रमाण है और वही वीतराग सर्वज्ञदेव ने कहा हुआ यथार्थ वस्तुस्वरूप है।

लाभ-नुकसान परवस्तु में नहीं, परन्तु अपनी वर्तमान मान्यता में है। जगत के जीवों को परवस्तु का संयोग, वह कहीं हर्ष का कारण नहीं तथा वियोग, वह शोक का कारण नहीं, परन्तु अज्ञानियों ने मिथ्या कल्पना की है कि मेरी यह वस्तु गयी और मुझे यह वस्तु मिली, इस कल्पना के कारण हर्ष-शोक के विकार स्वयं करता है। वास्तव में कोई परवस्तु तो आत्मा में है नहीं और राग-द्वेष, अज्ञानादि भी वस्तु स्वभाव में प्रविष्ट

नहीं हो गये; जहाँ स्वभाव की त्रिकाल दृष्टि में मिथ्यात्व या राग-द्वेष भी आत्मा में नहीं तो फिर परवस्तु तो आत्मा से भिन्न कहीं रह गयी।

आत्मा चिदानन्दस्वरूप वस्तु है। उस वस्तु में विकार नहीं; इसलिए विकार टालने की अपेक्षा भी वस्तु में नहीं है। अर्थात् वस्तु बन्ध-मोक्षरहित है, वस्तु में जाये क्या और आये क्या? एक समयमात्र की हालत में विकार है और वह टल सकता है। अर्थात् कि अवस्था में बन्ध-मोक्ष है। इस प्रकार बन्ध-मोक्षरहित त्रिकाल एकरूप निरपेक्ष असली वस्तु को जानना, वह निश्चयनय और अवस्था में बन्ध-मोक्ष जैसा हो, वैसा जानना, वह व्यवहारनय है। विकार को 'अवस्था में है', इस प्रकार जानना, वह दोष नहीं, परन्तु विकार मेरा स्वरूप है—ऐसा मानना, वह दोष है। अवस्था में विकार है सही, यदि अवस्था में विकार हो ही नहीं तो परमानन्ददशा का प्रगट अनुभव हो और यह कुछ करने का रहे नहीं। तथा यदि उस अवस्था का विकार वस्तुस्वरूप में हो तो वह कभी टल नहीं सकता। इस प्रकार त्रिकाली वस्तु और वर्तमान अवस्था जैसी है, वैसी दोनों को जानना, वह प्रमाणज्ञान है।

आचार्यश्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि -

(मालिनी)

उभय-नय-विरोधऽध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के,
जिन-वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्त-मोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योति-रुच्चै-
रनव-मनय-पक्षाक्षुण्ण-मीक्षन्त एव ।।

(समयसार कलश ४)

निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय को परस्पर विरोध है, जिनवचन स्यात्—अपेक्षा से जैसा है, वैसा वस्तुस्वरूप कहकर दोनों नयों का विरोध मिटा देते हैं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को द्रव्यदृष्टि से त्रिकाल शुद्ध कहा है और वर्तमान पर्याय को देखनेवाली अवस्थादृष्टि से वर्तमान रागादिवाला कहा है। इस प्रकार 'राग है' और 'राग नहीं' ऐसा विरोध स्यात्पद द्वारा अर्थात् कि अवस्था में राग है और वस्तु में राग नहीं, ऐसे अपेक्षा वचन द्वारा दूर होता है। दो नयों के विषय के परस्पर विरोध को

दूर करनेवाला दो अपेक्षाओं का उद्देश्य भगवान की स्याद्वाद वाणी में आया है। स्याद्वाद से दो नयों में विरोध नहीं रहता, इसलिए नयों का यथार्थ ज्ञान एकान्त भ्रान्ति को दूर करता है। 'त्रिकाल स्वभाव से शुद्ध' ऐसा कहते ही। वर्तमान अपेक्षा से अशुद्ध—ऐसी अपेक्षा आयी और 'वर्तमान अशुद्ध' ऐसा कहने से त्रिकाल शुद्ध, ऐसी अपेक्षा आयी; इस प्रकार अपेक्षाओं द्वारा वस्तु का अनेकान्तस्वरूप मानकर भ्रान्ति को वमन कर देता है।

वस्तु निर्मल है, ऐसा कहने से वर्तमान अवस्था से भी निर्मल हूँ, ऐसा एकान्त निश्चय मान ले अथवा अवस्था से अशुद्ध है, ऐसा कहते ही वस्तु ही अशुद्ध हो गयी, ऐसा एकान्त व्यवहार मान ले तो उस एकान्त मान्यतारूप भ्रान्ति को स्याद्वाद द्वारा अपेक्षा समझकर वमन कर डालता है—नाश करता है। जिस प्रकार वमन की हुई चीज़ को, पुनः ग्रहण करना कोई नहीं चाहता, उसी प्रकार 'मैं त्रिकाल शुद्धस्वभावी हूँ, अवस्था का क्षणिक विकार है, वह मेरा त्रिकाल स्वरूप नहीं है।'—ऐसे स्याद्वाद द्वारा वस्तुस्वरूप का भान करके जिसने मिथ्यात्व-भ्रान्ति का वमन कर दिया है, वे फिर से कभी मिथ्यात्वरूप अज्ञानभाव को ग्रहण नहीं करते और तुरन्त ही परम चैतन्य ज्योतिरूप प्रकाशमान अपने शुद्धात्मा के पूर्णस्वरूप को अनुभव करते हैं। सच्ची समझ द्वारा मिथ्यात्व का वमन करते हुए 'सपदि' उसी क्षण—शीघ्र अपने आत्मा को अनुभव करता है; वह आत्मा कैसा है? उसके पीछे की दो लाईन में कहा है कि—

सपदि समयसारं ते परं ज्योति-रुच्चै-
रनव-मनय-पक्षाक्षुण्ण-मीक्षन्त एव ।।

अवस्था की ओर का लक्ष्य छोड़कर अन्तर वस्तुस्वभाव में लक्ष्य करने से आत्मा का अनुभव होता है, वह कैसा है? आत्मा नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, परमानन्द शान्तस्वरूप है, उस स्वरूप में रागादि नहीं। ऐसा जब वस्तु का भान हुआ, तब आत्मा की प्राप्ति हुई, ऐसा कहा जाता है; वहाँ वास्तव में तो आत्मा नया प्रगट नहीं हुआ, परन्तु जो था उसका भान हुआ है, प्राप्त की प्राप्ति है, नया प्रगट नहीं हुआ है और वह आत्मस्वभाव किसी एकान्त पक्ष से खण्डित नहीं होता; किसी एकान्त से वह ज्ञात नहीं होता।

अब टीकाकार पद्मप्रभदेव जीव अधिकार में अन्तिम कलश कहते हैं, उसमें कहते हैं कि 'सज्जनों को अन्य कथन से इस जगत में क्या प्रयोजन है ?'

(मालिनी)

अथ नय-युग-युक्तिं लङ्घयन्तो न सन्तः,
परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमत्तद्विरेफाः।
सपदि समय-सारं ते ध्रुवं प्राप्नुवन्ति,
क्षितिषु परमतोक्तेः किं फलं सज्जनानाम् ।।३६।।

जिन्हें अनन्त चतुष्टय प्रगट हुए हैं, ऐसे श्री जिनेन्द्र भगवान के चरणकमल में जो जीव मत्त—(भ्रमर समान लीन) होकर रहते हैं, अर्थात् जैसे भँवर कमल में से बाहर नहीं आता, उसी प्रकार वे दो नयों की युक्ति को नहीं उल्लंघते हुए मिथ्यात्व को वमन कर स्वरूप में ऐसे लीन हुए हैं कि उन्हें अन्तरस्वरूप से बाहर आना होता नहीं अर्थात् फिर से बीच में मिथ्यात्व आये बिना वे केवलज्ञान लेते हैं।

मैं आत्मा अकेला शुद्ध परमानन्दस्वरूप हूँ, कोई परद्रव्य मुझे रागादि विकार नहीं कराता तथा मेरे स्वभाव में विकार नहीं है। अवस्था में पुरुषार्थ की शिथिलता के कारण वर्तमानमात्र क्षणिक रागादि होते हैं, वे मेरे स्वभाव में नहीं हैं। ऐसे स्वभाव के भान में सम्यग्दृष्टिवन्त जीव जिनेन्द्र के चरणकमल में अर्थात् अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन होते हैं और तुरन्त ही अपने ध्रुवस्वरूप को प्राप्त करते हैं—अनुभव करते हैं; ऐसे नित्य परमशुद्ध ध्रुव आत्मस्वभाव के अतिरिक्त सज्जनों को दूसरे किस फल का प्रयोजन है... ?

आत्मा के स्वभाव में राग-द्वेष नहीं, कोई परद्रव्य रागादि का कारण नहीं। 'देव-गुरु को देखकर मुझे शुभराग होता है' अथवा तो 'स्त्री-पुत्र को देखकर अशुभराग होता है', इस प्रकार जो पर को राग का कारण मानते हैं, वे दोनों झूठे हैं। राग का कारण पर को माने तो दृष्टि खोटी और अवस्था में होते राग को वस्तु का स्वरूप माने तो दृष्टि खोटी है। पर कहीं राग का कारण नहीं है तथा स्वभाव भी राग का कारण नहीं है, मात्र एक समय जितनी अवस्था में स्व का लक्ष्य चूककर पर के लक्ष्य से राग-द्वेष होते हैं—वे त्रिकाली वस्तु के लक्ष्य से टलते हैं।

जिस जीव ने परद्रव्य को राग का कारण माना है, उस जीव के अभिप्राय में त्रिकाल अनन्त राग आया, क्योंकि परवस्तुएँ तो अनन्त है और त्रिकाल है, उस परवस्तु को यदि राग का कारण माने तो अनन्त परवस्तु को देखकर अनन्त राग होगा- ऐसा उस मान्यता में आया। परवस्तु मुझे राग करावे, इसमें तो 'अनन्त पर को जानने से अनन्त राग करने का जीव का स्वभाव है' ऐसा माना, इसलिए अनन्त राग-द्वेष के निमित्त मिलने से अनन्त राग-द्वेष हों, ऐसी उस उल्टी मान्यता में अनन्तानुबन्धी राग आया, इसलिए पर को रागादि का कारण माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। और जो जीव परद्रव्य के कारण रागादि नहीं मानते तथा अपने स्वभाव में रागादि नहीं हैं, ऐसा जानते हैं, उनके अभिप्राय में जरा भी राग नहीं रहा—वे जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हैं। वे ऐसा मानते हैं कि मेरी भूमिका की कचास के कारण मात्र वर्तमान अवस्था में राग है, वह मेरे त्रिकाल स्वभाव में नहीं है तथा परद्रव्य मुझे राग नहीं कराते; इस मान्यता में अपने पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता रखी, परन्तु पर मुझे राग कराता है, इस मान्यता में अपने पुरुषार्थ की स्वतन्त्रता नहीं रही।

१— परवस्तु रागादि कराती है, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि,

२— स्वभाव में से रागादि आते हैं, ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि;

३— मेरा स्वभाव वीतरागी होने पर भी, अवस्था में अभी पूर्ण वीतरागता नहीं है; अवस्था में रागादि होते हैं, वह मेरा स्वभाव नहीं; पर कराते नहीं—ऐसा जिसे भान है, वह साधकस्वभावी सम्यग्दृष्टि है।

४— वस्तुस्वभाव में राग-द्वेष है नहीं, परद्रव्य रागादि कराते नहीं, ऐसा भान हुआ है और अवस्था में भी जिसे रागादि रहे नहीं, वह केवलज्ञानी वीतराग है।

श्री जिनेन्द्र के चरणकमल में भ्रमर की भाँति इन चार में से कौन मत्त होता है, अर्थात् स्वरूप की लीनता कौन करता है? पहले दो तो मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें स्वरूप की खबर ही नहीं, इसलिए उन्हें लीनता नहीं होती; चौथे तो वीतराग हो गये हैं, वे तो स्वरूप में लीन है ही; इसलिए उन्हें भी लीन होना नहीं रहा। तीसरे सम्यग्दृष्टि साधक को स्वभाव का ज्ञान तथा श्रद्धान है, मेरे अन्तर स्वभाव में रागादि नहीं, पर कोई रागादि

कराते नहीं। वर्तमान राग है, वह मेरी अवस्था की निर्बलता से होता है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं—ऐसा भान है, परन्तु अभी सम्पूर्ण वीतरागदशा हुई नहीं—ऐसे साधक धर्मात्मा स्वरूप की लीनता करके शुद्धात्मा की प्राप्ति करते हैं। धर्मात्मा सदा—पर्याय-पर्याय में स्वरूप की लीनता द्वारा जानने-देखनेस्वरूप शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करते जाते हैं, इस प्रकार साधक सम्यग्दृष्टि श्री जिनेन्द्र के चरणकमल में भ्रमर की भाँति लीन होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—अहो! सज्जनों को शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरे कथन का क्या प्रयोजन है? ऐसे परम शुद्ध आत्मा को समझकर फिर दूसरे किसकी आवश्यकता है? सज्जनों को अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवों को शुद्ध आत्मा का ही आदर है। अपूर्णता हो, वहाँ पुरुषार्थ की निर्बलता से राग-द्वेष की वृत्ति होती है, परन्तु उसका आदर नहीं, उन रागादि की ओर जोर नहीं; वस्तु से त्रिकाल परमात्मा हूँ—इस ओर ही जोर है।

वस्तु त्रिकाल परमात्मस्वरूप है। अवस्था से जब संसारदशा प्रगट हो, तब परमात्म—मोक्षदशा प्रगट नहीं होती और जब मोक्षदशा प्रगट होती है, तब संसारदशा प्रगट नहीं होती। तब फिर ऐसा भी कहा कि संसारदशा में मोक्ष का और मोक्षदशा में संसार का आरोप नयविवक्षा से किया जा सकता है; ऐसा कहकर सब समस्वरूप बतलाया, अर्थात् एक समय की अवस्था के अनेक प्रकार पड़ते हैं, उस भेद को गौण करके—उसका लक्ष्य छुड़ाकर त्रिकाल एकस्वरूप—समस्वरूप स्वभाव की ओर लक्ष्य कराया है। धर्मात्मा को इसके अतिरिक्त दूसरा क्या चाहिए? दुर्जन को संसार की रुचि होती है—उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो जिसे स्वरूप की रुचि हो और जिसके संसार का अन्त आया हो, ऐसे सज्जन भव्य आत्माओं की बात है।

यह नियमसार का प्रथम जीव अधिकार पूरा होता है। पहले अध्याय में बहुत सुन्दर रहस्य आया है। जीवद्रव्य के स्वभाव को बहुत स्पष्ट रीति से वर्णन किया है। द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय का स्वरूप अपूर्व और अचिन्त्य रीति से वर्णन किया है। आत्मतत्त्व का सम्पूर्ण रहस्य अलौकिक रीति से समझाया है। १० से १५ गाथाओं में तो वीतरागदेव के अन्तररहस्य खुल्ले किये हैं, अन्तर की मूल बात रखी है। जीवद्रव्य वस्तु

से, गुण से और अवस्था से भी त्रिकाल शुद्ध है, संसार-मोक्ष तो पर की अपेक्षा से एक समय की उत्पाद-व्ययरूप अवस्था में है, परन्तु उत्पाद-व्ययरहित और पर की अपेक्षा बिना की एक अवस्था अन्दर है, वह त्रिकाल शुद्ध है, उसे बन्ध-मोक्ष नहीं है। आत्मा और गुण तो त्रिकाल शुद्ध है, परन्तु प्रत्येक गुण का जो वर्तमान भाव, वह भी त्रिकाल एकरूप शुद्ध है। जैसे एकरूप सामान्य गुण है, वैसा ही उसका एकरूप वर्तमान-विशेष है।

जैसे वस्तु-गुण, वैसा ही उसका कायम एक सरीखा वर्तमान है, तब ही सामान्य-विशेषरूप वस्तु की पूर्णता है। वस्तु ध्रुव, गुण ध्रुव और उसकी पर्याय भी त्रिकाल ध्रुव! यही सम्यग्दर्शन का विषय है। संसार या मोक्षदशा, वह तो व्यवहार है—वह सम्यग्दर्शन का विषय नहीं; इसके अतिरिक्त, जैसे द्रव्य-गुण सामान्य एकरूप है, वैसा उसका विशेष (पर्याय) भी एकरूप है, उस कारणपर्याय का वर्णन बहुत सूक्ष्म रीति से जीव अधिकार में कहा है; कारणपर्याय सूक्ष्म है, उसमें एकाग्र होने पर सम्यग्दर्शन और केवलज्ञानदशा प्रगट होती है, वह दशा प्रगट होने से पहले भी अनन्त गुणों की, उन गुणों के आधार से अवस्था तो एकरूप ही होना चाहिए, क्योंकि वह अवस्था निमित्त की अपेक्षा से नहीं परन्तु स्व गुण के आधार से है, इसलिए वह एकरूप है। यह सब पद्मप्रभमलधारिदेव ने टीका में स्पष्ट किया है, ऐसी स्पष्ट खुल्ली बात अन्यत्र कहीं नहीं है।

'पद्मप्रभमलधारि' मुनिराज निर्ग्रन्थ मुनि थे, जंगल में बसते थे, पाँच इन्द्रियों के विषयों पर लक्ष्य नहीं था। वे तो सातवें-छठवें गुणस्थान में झूल रहे सन्त-मुनि थे, पाँच इन्द्रिय के ओर के विकल्प के झुकाव से संकुचित होकर अन्दर स्वरूप में ढले हैं। बाह्य में शरीरमात्र का परिग्रह है अर्थात् निर्ग्रन्थ हैं। वे कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष अर्थात् आज से लगभग ९०० वर्ष पूर्व हुए थे और उन्होंने इस नियमसार शास्त्र की अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों से भरपूर टीका रची है।

★★★★★

इस प्रकार भव्य जीवोंरूपी कमलों को विकास के लिये सूर्यसमान, पाँच इन्द्रिय के फैलाव से रहित शरीरमात्र परिग्रह के धारी निर्ग्रन्थ मुनिश्री पद्मप्रभमलधारि मुनिराज रचित, भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत श्री नियमसार शास्त्र की तात्पर्यवृत्ति टीका में पहला 'जीव अधिकार' पूर्ण हुआ।

★★★★★

शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने नियमसार शास्त्र की रचना की, मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने इस पर तात्पर्यवृत्ति टीका की रचना की और अध्यात्मयोगी सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस पर विस्तृत प्रवचन किये, इन प्रवचनों में से प्रथम जीव अधिकार के प्रवचन पूर्ण हुए।

★★★★★

परिशिष्ट

वस्तु के सामान्य-विशेषरूप अंशों की स्वाधीनता

वस्तु सामान्य-विशेष स्वरूप है। जैसे वस्तु का सामान्य अंश स्व से है, पर नहीं है; वैसे वस्तु का विशेष अंश भी स्व से है, पर से नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह ज्ञान अभी भी इन्द्रियों के अवलम्बन से जानता है या इन्द्रियों के बिना ही? यदि वर्तमान ज्ञान इन्द्रियों से होता है तो सामान्य ज्ञानस्वभाव के वर्तमान विशेष का अभाव होगा। यदि ज्ञान, इन्द्रियों से जानता हो तो उस समय जो सामान्य ज्ञान है उसका विशेष कार्य क्या हुआ? आत्मा का ज्ञान, इन्द्रियों से नहीं, किन्तु सामान्य ज्ञान की विशेष अवस्था से जानता है।

यदि वर्तमान में जीव विशेष ज्ञान से नहीं जानता हो और इन्द्रिय से जानता हो तो विशेष ज्ञान ने कौन सा कार्य किया? आत्मा, इन्द्रिय से जानने का कार्य करता ही नहीं है। ज्ञान स्वयमेव विशेषरूप होकर जानने का कार्य करता है। निम्नदशा में भी जड़-इन्द्रिय और ज्ञान एकत्रित होकर जानने का कार्य नहीं करते, परन्तु सामान्यज्ञान, जो आत्मा का त्रिकालस्वभाव है, उसी का विशेषरूप ज्ञान वर्तमान जानने का कार्य करता है।

प्रश्न - यदि ज्ञान का विशेष ही जानने का कार्य करता है तो इन्द्रियों के बिना जानने का कार्य क्यों नहीं होता?

उत्तर - जब ज्ञान की उस प्रकार की विशेषता की योग्यता नहीं होती, तब ज्ञान नहीं होता और जब इन्द्रियाँ होती हैं, तब भी ज्ञान जानने का कार्य तो अपने आप ही करता है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि 'निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान करना चाहिए' - यह उसी का विवरण चल रहा है। इन्द्रियों के होते हुए भी ज्ञान स्वतन्त्ररूप से अपनी अवस्था से जानता है। यदि यह माना जाएगा कि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो इसका अर्थ यह होगा कि ज्ञान का विशेष कुछ कार्य नहीं करता और ऐसा होने पर बिना विशेष के सामान्यज्ञान का ही अभाव हो जाएगा; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान, इन्द्रियों से नहीं जानता। अल्पज्ञान जब अपने द्वारा जानता है, तब अनुकूल इन्द्रियाँ उपस्थित रहती हैं किन्तु ज्ञान उनकी सहायता से नहीं जानता। इसका ही नाम निमित्त-

नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु यदि यह माना जाएगा कि ज्ञान इन्द्रियों से जानता है तो वह मान्यता मिथ्या होगी क्योंकि इस मान्यता में निमित्त और उपादान एक हो जाते हैं।

जीव का ज्ञानस्वभाव सिद्ध करने को आचार्यदेव शिष्य से पूछते हैं कि यदि जीव ने इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया तो विशेष ज्ञान ने कौन सा कार्य किया? उस समय तो उसका अभाव ही मानना होगा न?

शिष्य ने उत्तर देते हुए कहा कि भले ही ज्ञानविशेष नहीं हो तो भी ज्ञानसामान्य तो त्रिकाल में रहेगा ही? और जानने का काम इन्द्रियों से होगा - ऐसा होने से ज्ञान का नाश नहीं होगा, अभाव नहीं होगा।

तब आचार्यदेव उससे कहते हैं कि भाई! तेरा निर्विशेष सामान्य तो 'खरगोश के सींग' जैसा अर्थात् अभावरूप है। बिना विशेष के सामान्य हो ही नहीं सकता; इसलिए निर्विशेष सामान्यज्ञान मानने से सामान्यज्ञान का भी नाश या अभाव हो जाएगा; इसलिए यदि यह माना जाए कि विशेषज्ञान से ही जाननेरूप कार्य होता है तो ही सामान्यज्ञान का अस्तित्व रह सकेगा।

ज्ञानस्वभाव, राग और निमित्त के अवलम्बन से रहित है और विशेषज्ञान, सामान्यज्ञान से ही आता है - ऐसा जानकर उसकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करना ही धर्म है।

यदि आत्मा, इन्द्रियों से जानता है तो फिर उसके ज्ञान का वर्तमान कार्य कहाँ गया? यदि इन्द्रियों की उपस्थिति में ज्ञान इन्द्रियों के कारण जानता है तो उस समय सामान्यज्ञान, विशेषपर्यायरहित हुआ, किन्तु बिना विशेष के सामान्य तो होता नहीं है। जहाँ सामान्य होगा, वहाँ उसका विशेष होगा ही।

अब प्रश्न यह होता है कि वह विशेष, सामान्यज्ञान से होता है या निमित्त से? विशेषज्ञान, निमित्त के कारण तो हुआ नहीं है, किन्तु सामान्य स्वभाव से हुआ है। विशेष का कारण सामान्य है, निमित्त उसका कारण नहीं है। यदि उसे अंशत: भी निमित्त का कार्य माना जाए तो निमित्त, जो परद्रव्य है, उसरूप ज्ञान हो जाएगा। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्थिर है, वह सामान्य और जो वर्तमान कार्यरूप है, वह ज्ञान का विशेष

है। सामान्यज्ञान का विशेष कहो, स्थिर ज्ञानस्वभाव का परिणमन कहो या ज्ञान की वर्तमान दशा (पर्याय) कहो, कुछ भी कहो, वह सब एक ही है और स्वयं अपने से स्वतन्त्र है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। वह केवल जानने का ही काम करता है। शब्द को, रूप को या किसी को भी जानने के लिए ज्ञान एक ही है, ज्ञान में कोई अन्तर नहीं हो जाता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वयमेव है, वह किसी के निमित्त से नहीं है। आत्मा का जो त्रैकालिक ज्ञानस्वभाव है, वह अपने आप ही विशेषरूप कार्य करता है। आत्मा इन्द्रियों से जानता ही नहीं, वह अपने ज्ञान की विशेष अवस्था से ही जानता है। सामान्यज्ञान स्वयं परिणमन करके विशेषरूप होता है, वह जानने का कार्य करता है। यह मानना अधर्म है कि ज्ञान दूसरे के अवलम्बन से जानता है। ज्ञान, स्वभावालम्बन से जानता है - ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता धर्म है।

यहाँ, परावलम्बनरहित ज्ञान की स्वाधीनता बताई गयी है, यह जयधवला शास्त्र की विशेषता है। इसमें और भी अनेक बातें हैं, जिसमें से यह एक विशेष है।

मेरे ज्ञान का परिणामरूप / विशेष व्यापार (उपयोग) मेरे द्वारा होता है, उसे किसी दूसरे निमित्त की या परद्रव्य की आवश्यकता नहीं है; इसलिए वह ज्ञान स्वयं समाधान और सुखस्वरूप है। ज्ञान, स्वाधीन स्वभाव होने से ही निगोद से लेकर सिद्ध जीवों तक सबको ज्ञान होता है परन्तु जैसा हो रहा है, वैसा अज्ञानी नहीं मानता और अपना ज्ञान पर से मानता है; इसलिए उसकी मान्यता में विरोध आता है।

सभी जीवों का ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञान का विशेष कार्य अपने स्वभाव के अवलम्बन से ही होता है; इसलिए ज्ञान, राग या पर निमित्त के अवलम्बन के बिना ही कार्य करता है; अत: ज्ञान, राग या संयोग से रहित है।

आज श्रुतपञ्चमी है। करीब 1900 वर्ष पहले सातवें-छट्ठे गुणस्थान में झुलते हुए महान् सन्त-मुनियों - आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने ज्ञान-प्रभावना का विकल्प होने से महान् परमागम शास्त्रों (षट् खण्डागम) की रचना की और अङ्कलेश्वर में उत्साहपूर्वक श्रुत-पूजा की थी। उस श्रुतपूजा का माङ्गलिक दिन ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी है।

मेरा ज्ञानस्वभाव सदा स्थिर रहे, मेरे ज्ञान की अटूटधारा बहती रहे अर्थात्

केवलज्ञान उत्पन्न हो; इस प्रकार वास्तव में अन्तरङ्ग में पूर्णता की भावना उत्पन्न होने पर, उन्हें बाहर ऐसा विकल्प उठा कि श्रुतज्ञान-आगम स्थिर बना रहे; ऐसे श्रुत के विकल्प से महान परमागम शास्त्रों की रचना हुई और संघ ने उनकी श्रुतपूजा की; वही मङ्गल दिन आज (ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी) है। वास्तव में यह भावना दूसरे के लिए नहीं है, किन्तु अपने ज्ञान की अटूटधारा बहने की भावना है। वीतरागी सन्तों के द्वारा इन शास्त्रों की रचना हुई है। इन शास्त्रों में अनेक अपूर्व बातें हैं; उनमें से आज दो विशेष बातें कहनी हैं।

ज्ञान, इन्द्रियों से नहीं जानता। यदि ज्ञान, विशेष के बिना रहे, तो वर्तमान विशेष के बिना ज्ञान कैसे जानेगा? यदि विशेष न हो तो सामान्यज्ञान ही कहाँ रहा? यदि वर्तमान पर्यायरूप विशेष को नहीं मानेंगे तो 'सामान्यज्ञान है' इसका निर्णय भी कौन करेगा? निर्णय तो विशेषज्ञान करता है। वर्तमान विशेषज्ञान (पर्याय) को अन्तर्मुख करके परावलम्बनरहित सामान्य ज्ञानस्वभाव जैसा है, वैसा जानना, इसी में धर्म का समावेश हो जाता है।

ज्ञान, राग को जानता है, पर को जानता है, इन्द्रियों को जानता है परन्तु वह किसी को अपना नहीं मानता; ज्ञान का ऐसा स्वभाव है। जो विकार को अथवा पर को अपना नहीं मानता, उसे दु:ख नहीं होता। मेरे ज्ञान को कोई परावलम्बन नहीं है - ऐसे स्वाधीन स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करे तो उस स्वभाव में शङ्का या दु:ख हो ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि ज्ञानस्वभाव स्वयं सुखरूप है।

कोई भी जीव, इन्द्रियों से नहीं जानता। जिसे सबसे अल्पज्ञान है - ऐसा निगोदिया जीव भी स्पर्शन इन्द्रिय से नहीं जानता, किन्तु वह अपने सामान्यज्ञान के परिणमन से होनेवाले विशेषज्ञान के द्वारा जानता है किन्तु वह ऐसा मानता है कि मुझे इन्द्रिय से ज्ञान हुआ है। जब जीव को सामान्य ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से अर्थात् सामान्य की ओर एकाग्रता होने से विशेषज्ञान होता है, तब वह सम्यक् मतिरूप होता है और उस मतिज्ञानरूप अंश में बिना परावलम्बन ज्ञानस्वभाव की पूर्णता की प्रतीति आती है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव किसी संयोग के कारण से नहीं है; यदि ऐसे स्वाधीन ज्ञानस्वभाव को न जाने तो धर्म नहीं होता। धर्म कहीं बाह्य में नहीं है किन्तु अपना

ज्ञानानन्दस्वभाव ही धर्म है; इसमें तो समस्त शास्त्रों का रहस्य आ जाता है। यह बात भी इसमें आ गयी कि कोई किसी का कुछ भी करने को समर्थ नहीं है। जड़-इन्द्रियाँ, आत्मा के ज्ञान की अवस्था नहीं करती और आत्मा का ज्ञान, पर का कुछ नहीं करता, इस प्रकार ज्ञानस्वभाव की स्वतन्त्रता सिद्ध हो गई।

सभी सम्यक् मतिज्ञानियों का ज्ञान, निमित्त के अवलम्बन बिना सामान्य स्वभाव के अवलम्बन से कार्य करता है, इसलिए सर्व निमित्तों के अभाव में, सम्पूर्ण असहाय होकर, सामान्यस्वभाव के अवलम्बन से विशेषरूप जो केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है, उसका निर्णय वर्तमान मतिज्ञान के अंश द्वारा उसे हो सकता है। यदि पूर्ण असहाय ज्ञानस्वभाव, मतिज्ञान के निर्णय में नहीं आये तो वर्तमान विशेष-अंशरूप ज्ञान (मतिज्ञान) पर के अवलम्बन के बिना प्रत्यक्षरूप है - यह निर्णय भी नहीं हो सकता। सामान्यस्वभाव के आश्रय से जो विशेषरूप मतिज्ञान प्रगट हुआ है, उस मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो अंश प्रगट हुआ है, वह अंशी के आधार के बिना प्रगट नहीं हुआ है; इसलिए अंशी के निर्णय के बिना अंश का निर्णय नहीं होता।

अहो! आज श्रुतपञ्चमी है। इस जयधवला में जो केवलज्ञान का रहस्य भरा गया है, उसकी मुख्य दो विशेषताएँ हैं, जिनकी स्पष्टता होती है - (1) अपने ज्ञान की विशेषरूप अवस्था परावलम्बन के बिना स्वाधीन भाव से है;

(2) उस स्वाधीन अंश में समस्त केवलज्ञान प्रत्यक्ष है-यह दो मुख्य विशेषताएँ हैं।

सामान्यस्वभाव की प्रतीति करता हुआ, जो वर्तमान निर्मल स्वावलम्बी ज्ञान प्रगट हुआ, वह साधक है और वह पूर्ण साध्यरूप केवलज्ञान को प्रत्यक्ष जानता हुआ प्रगट होता है। वह साधकज्ञान स्वाधीनभाव से अपने कारण से, भीतर के सामान्यज्ञान की शक्ति के लक्ष्य से परिणमन करता हुआ साध्य केवलज्ञानरूप होता है, उसमें कोई बाह्यावलम्बन नहीं है किन्तु सामान्य ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन है।

आत्मा का धर्म आत्मा के ही पास है। अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव होता है, उसे ज्ञान जान लेता है किन्तु उसका अवलम्बन ज्ञान नहीं मानता अर्थात् सर्व निमित्त के बिना पूर्ण स्वाधीन केवलज्ञान का निर्णय करता हुआ और प्रतीति में लेता

हुआ स्वाश्रित मति-श्रुतज्ञान, सामान्यस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट होता है; इस प्रकार ज्ञान का कार्य परावलम्बन से नहीं होता किन्तु स्वाधीन स्वभाव के अवलम्बन से होता है, इसमें ज्ञान की स्वतन्त्रता बतायी है।

ज्ञान की भाँति श्रद्धा की स्वतन्त्रता

आत्मा में श्रद्धागुण त्रिकाल है। सामान्य श्रद्धागुण का जो स्वाश्रित विशेष है, वह सम्यग्दर्शन है। श्रद्धागुण का वर्तमान यदि देव-शास्त्र -गुरु इत्यादि पर के आश्रय से परिणमन करे तो उस समय श्रद्धागुण ने कौन सा विशेष कार्य किया? श्रद्धा सामान्यगुण है, उसका विशेष, सामान्य के अवलम्बन से ही होता है। सम्यग्दर्शनरूप विशेष पर के अवलम्बन से कार्य नहीं करता किन्तु सामान्यश्रद्धा के अवलम्बन से ही उसका विशेष प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन उस श्रद्धागुण की विशेष दशा है। श्रद्धागुण त्रिकाल है और सम्यग्दर्शन उसकी पर्याय है। श्रद्धागुण के अवलम्बन से सम्यग्दर्शनरूप विशेष दशा प्रगट होती है। यदि देव, शास्त्र, गुरु इत्यादि पर के अवलम्बन से श्रद्धा का विशेष कार्य होता हो तो उस समय सामान्य श्रद्धा का विशेष क्या है? विशेष के बिना सामान्य कदापि नहीं होता। आत्मा की श्रद्धा की वर्तमान अवस्थारूप जो कार्य होता है, वह त्रैकालिक श्रद्धागुण का है, वह कार्य किसी पर के अवलम्बन से नहीं, किन्तु सामान्य के अवलम्बन से प्रगट हुआ है। विशेष के बिना सामान्य हो ही नहीं सकता।

आनन्द की भी स्वाधीनता

ज्ञान और श्रद्धागुण के अनुसार आनन्दगुण के सम्बन्ध में भी यही बात है; आत्मा का वह वर्तमान आनन्द यदि पैसा इत्यादि पर के कारण से परिणमन करे तो उस समय आनन्दगुण ने स्वयं वर्तमान में कौन सा कार्य किया? यदि पर से आनन्द प्रगट हुआ तो उस समय आनन्दगुण का विशेष कार्य कहाँ गया? अज्ञानी ने पर में आनन्द माना, उस समय भी उसका आनन्द गुण स्वाधीनतापूर्वक कार्य करता है। अज्ञानी ने आनन्द का वर्तमान कार्य पर से माना; अत: आनन्द गुण का विशेष उसे दु:खरूप परिणमित होता है। आनन्द पर से प्रगट नहीं होता, किन्तु संयोग और निमित्त के बिना आनन्द नाम के सामान्यगुण के अवलम्बन से वर्तमान आनन्द प्रगट होता है, इसे समझ लेने पर स्वभाव के प्रति लक्ष्य जाता है और उसके अवलम्बन से विशेषरूप आनन्ददशा प्रगट होती है।

सामान्य आनन्दस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट हुआ आनन्द का अंश, पूर्ण आनन्द की प्रतीति को लेकर प्रगट होता है। यदि आनन्द के अंश में पूर्ण आनन्द की प्रतीति नहीं हो तो वह अंश किसका?

चारित्र, वीर्य इत्यादि सर्व गुणों की स्वाधीनता

इसी प्रकार चारित्र, वीर्य इत्यादि समस्त गुणों का विशेष / कार्य सामान्य के अवलम्बन से ही होता है। आत्मा का पुरुषार्थ यदि निमित्त के अवलम्बन से कार्य करता हो तो अन्तरङ्ग के सामान्य पुरुषार्थ स्वभाव ने क्या किया? क्या सामान्यस्वभाव, विशेष के बिना ही रहा? विशेष के बिना सामान्य नहीं रह सकता। प्रत्येक गुण का वर्तमान अर्थात् विशेषअवस्थारूप कार्य, सामान्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है। अत: कर्म पुरुषार्थ रोकता है, यह बात मिथ्या होने से खण्डित हो गयी।

सभी गुण त्रिकाल हैं, उनका कार्य किसी निमित्त अथवा राग के अवलम्बन से ज्ञानियों के नहीं होता किन्तु अपने ही सामान्य के अवलम्बन से होता है। यह स्वाधीन स्वरूप जिसके अन्तर में जम गया, उसे पूर्ण की प्रतीतिपूर्वक गुण का अंश प्रगट होता है। जिसके पूर्ण की प्रतीतिसहित ज्ञान प्रगट होता है, उसकी अल्पकाल में मुक्ति अवश्य हो जाती है। जिस सामान्य के बल से एक अंश प्रगट हुआ, उसी सामान्य के बल से पूर्णदशा प्रगट होती है। विकल्प के कारण सामान्य की विशेष अवस्था नहीं होती। यदि विकल्प के कारण विशेष होता हो तो विकल्प का अभाव होने पर विशेष का भी अभाव हो जाएगा। वर्तमान विशेष, सामान्य से ही प्रगट होता है, विकल्प से नहीं; इसे समझना ही धर्म है।

यह प्रत्येक द्रव्य की स्वाधीनता की स्पष्ट बात है, दो और दो चार जैसी सीधी सरल बात है; इसे न समझकर, इसकी जगह यदि जीव इस प्रकार पराश्रयता माने कि सबकुछ निमित्त से होता है और एक दूसरे का कार्य करता है तो यह सब मिथ्या है, यह उसकी मूल भूल है। यदि पहले ही दो और दो तीन मानने की भूल हो गयी हो तो उसके बाद सभी भूल होती जाएँगी। इस प्रकार जिसकी मूल वस्तुस्वभाव की मान्यता में भूल हो, उसका सब मिथ्या है।

स्वाधीनता से प्रगट हुआ अंश पूर्ण को प्रत्यक्ष करता है

जगत में परद्रव्य भले हों, परनिमित्त भले हों; जगत में तो सर्व वस्तुओं का अस्तित्व है, किन्तु वह कोई वस्तु मेरी विशेष अवस्था करने के लिए समर्थ नहीं है। मेरे आत्मा के सामान्यस्वभाव का अवलम्बन करके मेरी विशेष अवस्था होती है, वह स्वाधीन है। और यह स्वाधीनता से प्रगट होनेवाला विशेष ही पूर्ण विशेषरूप केवलज्ञान का कारण है। जो विशेष प्रगट होता है, वह पूर्ण को प्रत्यक्ष करता हुआ प्रगट होता है।

प्रश्न — वर्तमान अंश में 'पूर्ण' प्रत्यक्ष कैसे होता है?

उत्तर — जहाँ विशेष को पर का अवलम्बन नहीं रहता और अपने सामान्यस्वभाव का अवलम्बन रहता है, वहाँ 'पूर्ण' प्रत्यक्ष होता है। जहाँ निमित्त अथवा विकाररहित मात्र सामान्यस्वभाव का अवलम्बन है, वहाँ विशेष प्रत्यक्ष ही होता है, अंश में पूर्ण प्रत्यक्ष होता है। यदि अंश में पूर्ण प्रत्यक्ष न हो तो अंश ही सिद्ध न हो। 'यह इसका अंश है' यह तभी निश्चय हो सकता है, जब अंशी प्रत्यक्ष हो। यदि अंशी अर्थात् 'पूर्ण' प्रत्यक्ष न हो तो अंश भी सिद्ध नहीं हो सकता।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी जब स्वसन्मुख होते हैं, तब प्रत्यक्ष हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष तो 'पर को जानते समय इन्द्रिय का निमित्त है' इस अपेक्षा से कहा है। इस प्रकार निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान करने के लिए वह कथन किया है किन्तु स्व को जानते समय तो वह ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है।

परावलम्बनरहित सामान्य के अवलम्बन से मेरा विशेष ज्ञान होता है, इस प्रकार जिसके सामान्यस्वभाव की प्रतीति जम गयी, उसका विशेषज्ञान, दूसरे को जानते समय भी स्वाधीनता की प्रतीतिसहित जानता है। पर को जानते हुए भी पर का अवलम्बन नहीं मानता।

जिस ज्ञान में यह निश्चय किया कि 'यह खम्भे का एक छोर है' उस ज्ञान में सारा खम्भा ध्यान में आ ही गया है; जहाँ यह निश्चय किया कि 'यह पृष्ठ समयसार का है' वहाँ इस प्रकार ज्ञान के निर्णय में पूर्ण और अंश दोनों आ गये। जिस प्रकार 'यह समयसार का पृष्ठ है' यह कहने पर यह भी निश्चय हो गया कि उसके आगे-पीछे के

सभी पृष्ठ किसी अन्य ग्रन्थ के नहीं हैं, किन्तु समयसार के ही हैं; इस प्रकार सारा ग्रन्थ ध्यान में आ जाता है। सारे ग्रन्थ को ध्यान में लिये बिना यह निश्चय नहीं हो सकता कि 'यह पृष्ठ उस ग्रन्थ का है।' इसी प्रकार 'यह मतिज्ञान उस केवलज्ञान का अंश है' इस प्रकार केवलज्ञान लक्ष्य में आये बिना निश्चित नहीं हो सकता।

यदि कोई कहे कि ज्ञान के अप्रगट अन्य अंश तो अभी शेष हैं न? उसका समाधान यह है कि यहाँ सारे अवयवी-पूर्ण की बात है, दूसरे अंशों की बात नहीं है। यहाँ पर अंश के साथ अंशी का अभेद बताया है। पूर्ण ज्ञान लक्ष्य में न हो तो 'यह ज्ञान का अंश है' ऐसा कहाँ से निश्चय किया? वर्तमान अंश के साथ अंशी अभिन्न है, वर्तमान अंश में सारा अंशी अभेदरूप में लक्ष्य में आ गया है, इसलिए जीव यह प्रतीति करता है कि यह अंश, इस अंशी का है।

वर्तमान अंश और पूर्ण अंशी का अभेदभाव है। यहाँ पर दूसरे अंश के भेदभाव की बात नहीं ली गयी है। अंशी में सब अंश आ गये हैं। यहाँ पर मतिज्ञान और केवलज्ञान का अभेदभाव बताया है। मतिज्ञान अंश है और केवलज्ञान अंशी है। अंश-अंशी अभिन्न हैं; इसलिए यह समझना चाहिए कि मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष आ जाता है।

स्वाधीनता की प्रतीति में केवलज्ञान

आचार्य भगवान ने आत्मा का स्वाधीन पूर्ण स्वभाव बताया है। तू आत्मा है, तेरा ज्ञानस्वभाव है, उस ज्ञानस्वभाव की विशेष अवस्था तेरे सामान्यस्वभाव के अवलम्बन से होती है; सामान्यस्वभाव के अवलम्बन से विशेषरूप जो मतिज्ञान प्रगट हुआ है; वह पूर्ण केवलज्ञान के साथ अभेदस्वभाववाला है। निमित्त और राग के अवलम्बन से रहित सामान्य के अवलम्बनवाला ज्ञान, स्वाधीन स्वभाववाला है। जिसके अन्तर में यह बात जम जाती है, उसे केवलज्ञान के बीच कोई विघ्न नहीं आ सकता। यह तीर्थङ्कर केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान की घोषणा करती आयी है। सामान्यस्वभाव के लक्ष्य से जो अंश प्रगट हुआ है, उस अंश के साथ ही केवलज्ञान अभेद है; इस प्रकार केवलज्ञान की बात की गयी है।

केवलज्ञानी की वाणी केवलज्ञान का घोषण करती हुई आयी है और केवलज्ञान

के साधक आचार्यों ने यह बात परमागम-शास्त्रों में संग्रह की है। तू भी केवलज्ञान को प्राप्त करने की तैयारी में है, तू अपने स्वभाव के बल पर हाँ कह! अपने स्वभाव की प्रतीति के बिना पूर्ण-प्रत्यक्ष का विश्वास जागृत नहीं होता।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव स्वाधीन है, कभी भी बिना विशेष के ज्ञान नहीं होता। जिस समय विशेष में थोड़ा ज्ञान था, वह अपने से ही था और जो विशेष में पूरा होता है, वह भी अपने से ही होता है; उसमें किसी पर का कारण नहीं है। इस प्रकार जीव यदि ज्ञानसवभाव की स्वाधीनता को जान ले तो वह पर में न देखकर, अपने में ही लक्ष्य करके पूर्ण का पुरुषार्थ करने लगे।

सामान्य किसी भी समय निर्विशेष नहीं होता, प्रत्येक समय सामान्य का विशेष कार्य तो होता ही है। चाहे जितना छोटा कार्य हो तो भी वह सामान्य के परिणमन से होता है। निगोद से लेकर केवलज्ञान तक आत्मा की सर्व परिणति अपने से ही है; इस प्रकार जहाँ स्वतन्त्रता अपनी प्रतीति में आती है, वहाँ परावलम्बन दूर हो जाता है। मेरी परिणति मुझसे ही कार्य कर रही है, इस प्रकार की प्रतीति में आवरण और निमित्त के अवलम्बन का चूरा हो जाता है।

आत्मा के अनन्त गुण स्वाधीनतया कार्य करते हैं। कर्ता, भोक्ता, ग्राहकता, स्वामित्व इत्यादि अनन्त गुणों की वर्तमान परिणति निमित्त और विकल्प के आश्रय के बिना अपने आप ही प्रगट होती है।

मेरे ज्ञान के मति-श्रुत अंश स्वतन्त्र हैं, उन्हें किसी पर का अवलम्बन नहीं है - ऐसी प्रतीति होने पर किसी निमित्त का अथवा पर का लक्ष्य नहीं रहता; सामान्यस्वभाव की ओर ही लक्ष्य रहता है। इस सामान्यस्वभाव के बल से जीव को पूर्णता का पुरुषार्थ होता है। पहले पर के निमित्त से ज्ञान का होना माना था, तब वह ज्ञान पर लक्ष्य में अटक जाता था किन्तु स्वाधीन स्वभाव से ज्ञान होता है - ऐसी प्रतीति होने पर ज्ञान को कहीं भी रुकने का नहीं रहता।

मेरे ज्ञान में पर का अवलम्बन नहीं है, असाधारण ज्ञान का ही अवलम्बन है। इस प्रकार सामान्यस्वभाव के कारण जो ज्ञान परिणमित होता है, उस ज्ञानधारा को

तोड़नेवाला कोई है ही नहीं अर्थात् स्वाश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ है, वह केवलज्ञान की ही पुकार करता हुआ प्रगट हुआ है। वह ज्ञान, अल्पकाल में ही केवलज्ञान को अवश्य प्राप्त करेगा। ज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान कार्य करता है – ऐसी प्रतीति में केवलज्ञान समा जाता है।

पहले ज्ञान की अवस्था अल्प थी, पश्चात् जब वाणी सुनी तब ज्ञान बढ़ा किन्तु वह वाणी के सुनने से बढ़ा है – यह बात नहीं है; लेकिन जहाँ ज्ञान की अवस्था बढ़ी, वहाँ ज्ञान ही अपने पुरुषार्थ से कषाय को कम करके विशेषरूप में हुआ है अर्थात् अपने कारण से ही ज्ञान हुआ है – ऐसी प्रतीति होने पर स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव के बल से पूर्णज्ञान का पुरुषार्थ होता है।

ज्ञानियों को स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति के बल से वर्तमान अल्पदशा में भी केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, केवलज्ञान प्रतीति में आ गया है।

अज्ञानी को स्वतन्त्र ज्ञानस्वभाव की प्रतीति नहीं होती; इसलिए उसे यह ज्ञान नहीं होता कि पूरी अवस्था कैसी होती है तथा उसे पूर्ण शक्ति की भी प्रतीति नहीं होती। अनेक प्रकार के निमित्त बदलते जाते हैं और उसने निमित्त का अवलम्बन माना है, इसलिए उसके निमित्त का लक्ष्य बना रहता है तथा स्वतन्त्र ज्ञान की प्रत्यक्षता की श्रद्धा उसके नहीं जमती। 'मेरा वर्तमान मुझसे होता है, मेरी शक्ति पूर्ण है और इस पूर्ण शक्ति के आश्रयरूप पुरुषार्थ के द्वारा पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है।' ज्ञानी को इस प्रकार की प्रतीति है।

जिस ज्ञान के अंश से ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की, वह ज्ञान केवलज्ञान को प्रत्यक्ष करता हुआ प्रगट हुआ है, इस प्रकार सामान्य ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करने पर पूर्ण को लक्ष्य में लेता हुआ जो विशेष ज्ञान प्रगट हुआ है, वह बीच के भेद को (मति और केवलज्ञान के बीच के भेद को) उड़ाता हुआ पूर्ण के साथ ही अभेदभाव को करता हुआ प्रगट हुआ है। बीच में एक भी भव नहीं है। ज्ञान में अवतार कैसा? केवलज्ञान की प्रतीति में भव का निषेध है। आचार्यदेव ने अविच्छिन्न धारा से केवलज्ञान की बात कही है। यह बात जिसके अन्तर में जम जाती है, उसे भव का अन्त होकर केवलज्ञान होता है। ●